हिन्दी सन्त-साहित्य

त्रिलोकीनारायण दीक्षित
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०,
प्रोफेसर, भारतीय भापा विभाग,
मास्को विश्वविद्यालय,
मास्को



राजकमल प्रकाशन

प्रथम संस्करण, १९६३

मूल्य ९)

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, ८, फैज बाजार, दिल्ली-६
शाखा—लिंक हाउस, मथुरा रोड, नई दिल्ली-१
साइन्स कालेज के सामने, पटना-६
मुद्रक : ओमप्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, ५८४५-१८

सन्त-काव्य एवं सन्त-दर्शन

के

मर्मज्ञ आचार्य

डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

को

सादर, सप्रेम, समर्पित

जो ऊगै सो अत्थवै, फूलै सो कुम्हिलाय ।
जो चुनिये सो ढहि परै, जामै सो मरि जाय ।। कबीर

बड़ा भया तो क्या भया जैसे पेड खजूर ।
पंछी को छाया नहीं, फल लागै अति दूर ।। कबीर

मारग चलते जो गिरै, ताको नाहीं दोस ।
कह कबीर बैठा रहै, ताके सिर करड़े कोस ।। कबीर

भोरे भोरे तन करै, वंडै करि कुरबाण ।
मीठा कौड़ा ना लगै, दादू तौहूँ सॉण ।। दादू

जो तेरे घट प्रेम है, तो कहि कहि न सुनाव ।
अंतरजामी जानिहै, अंतरगत का भाव ।। मलूकदास

साध पुरुष देखी कहै, सुनी कहै नहिं कोय ।
कानों सुनी सो झूठ सब, देखो सांची होय ।। दरियासाहब

समझ विचारे बोलना, समझ विचारे चाल ।
समझ विचारे जागना, समझ विचारे ख्याल ।। गरीबदास

पलटू यहि संसार में, कोउ नाहीं हीत ।
सोऊ बैरी होत है, जाको दीजै प्रीत ।। पलटूसाहब

बड़े बड़ाई मे भुले, छोटे हैं सरदार ।
पलटू मीठो कूच जल, समुंद पड़ा है खार ।। पलटूसाहब

पलटू मै रोवन लगा, जरौ जगत की रीति ।
जहँ देखौं तहँ कपट है, कासों कीजै प्रीति ।। पलटूसाहब

प्राक्कथन

सन्त-साहित्य अपनी विभिन्न विशेषताओं के कारण हिन्दी-साहित्य मे महत्व-पूर्ण स्थान रखता है। सरलता, सरसता, स्वाभाविकता और अकृत्रिमता की दृष्टि मे यह अद्वितीय है। लोक-सस्कृति का इसमे सजीव चित्रण सम्प्राप्त होता है। मानवतावादी तत्व का जितना सुष्ठु एव सुन्दर चित्रण सन्त-साहित्य मे है, वैसा हिन्दी-साहित्य मे अन्यत्र नहीं। सन्तो की अहिंसा भावना, निर्गुण राम तथा नामादि की महत्ता ने महात्मा गान्धी को भी अत्यधिक प्रभावित किया। सन्त-काव्य मे उपनिषदो का ज्ञान अत्यन्त सरल भाषा, सुबोध अप्रस्तुत योजना तथा सुचारु शैली मे अभिव्यक्त हुआ है। साधना, सिद्धान्त तथा सस्कृति का अध्ययन करनेवाले विद्वानो के लिए इस साहित्य मे महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होगी। प्रसन्नता की बात है कि सन्त-दर्शन का अध्ययन अनेक सूत्रों के द्वारा आजकल सम्पन्न हो रहा है। इस दिशा के अग्रदूत थे डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल। उनके अथक परिश्रम से यह पथ परिष्कृत हो गया। आज प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय मे सन्त-साहित्य पर अनुसन्धान कार्य हो रहा है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, डॉ० विनयमोहन शर्मा, प्रभृति विद्वान इस दिशा में बहुत महत्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं। आशा है, भविष्य मे अनेक अन्य अभावो की पूर्ति हो सकेगी।

सन्त-दर्शन की विवेचन की ओर विद्वानो का ध्यान विशेष रूप से गया है। परन्तु काव्य-कला की दृष्टि से सन्तो की कविता का मूल्याकन सम्यक् रूप से नहीं हो पाया है। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन इसी दृष्टि से किया गया है। इसमे सन्त-मत या सन्त-दर्शन का विवेचन करके काव्य-कला की दृष्टि से सन्तों के साहित्य का विवेचन हुआ है। यहाँ सन्तो के काव्यादर्श, सन्त-काव्य मे अप्रस्तुत योजना, कल्पना-तत्व, सन्तों की भाषा, सन्तो की प्रतीक योजना आदि का आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत करना लेखक का दृष्टिकोण रहा है। आशा है कि इन विषयों की ओर विद्वानो का ध्यान जायगा और भविष्य मे उनकी रचनात्मक प्रतिभा इस क्षेत्र को भी आलोकित करेगी।

इस पुस्तक की रचना प्रायः ५ वर्ष पूर्व हो चुकी थी। इसे पाठकों तक पहुँचाने का समस्त श्रेय श्री ओमप्रकाश जी को है। एतदर्थ उन्हे अनेकानेक धन्यवाद।

डॉ० सावित्री शुक्ल, डॉ० हरस्वरूप माथुर, डॉ० शान्तिस्वरूप त्रिपाठी, श्री राजेन्द्रप्रसाद श्रीवास्तव, श्रीमती उषा भार्गव ने समय-समय पर सहायता देकर इस ग्रन्थ को सर्वाङ्गीण सम्पन्न बनाने में सहायता दी। लेखक उनके प्रति कृतज्ञ है।

मास्को विश्वविद्यालय,
मास्को
१ मई, १९६३ ई०

—त्रिलोकीनारायण दीक्षित

सूची

प्रथम परिच्छेद्

समकालीन परिस्थितियाँ

राजनीतिक परिस्थितियाँ

मानव का निर्माण एव विकास समाज मे होता है। समाज के वातावरण द्वारा वह प्रभावित होता है। समाज पर उन तात्कालिक राजनीतिक, आर्थिक एव सास्कृतिक परिस्थितियो का प्रभाव पडता है। कवि समाज का सर्वाधिक अनुभवशील एव चेतनशील प्राणी होता है। उस पर सब परिस्थितियो का प्रभाव सर्वाधिक होता है तथा उसकी प्रतिक्रिया उसकी रचनाओ मे परिलक्षित एव प्रतिबिम्बित होती है। अतः किसी साहित्यकार की कृतियों का अध्ययन करने हेतु उस समय की परिस्थितियो का अध्ययन करना अत्यावश्यक है।

तेरहवी शताब्दी से अठारहवी शताब्दी तक अनेक निर्गुण-सन्त-कवियो का आविर्भाव हुआ, जिनमे से कबीर, दादू, नानक, सुन्दरदास, मलूकदास, जगजीवन साहब, भीखा साहब, बुल्ला साहब, दरिया साहब, यारी साहब तथा चरनदास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन कवियो की रचनाओं पर इन पॉच सौ वर्षों की परिस्थितियो का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

इन पॉच सौ वर्षों मे भारत पर अत्यधिक आक्रमण हुए। फलस्वरूप भारतवर्ष की राजनीति का एक निश्चित रूप स्थिर न हो सका। यह युग अशान्ति तथा असगतियो का युग था।

तेरहवी शती से पूर्व भारत पर अरबो के अनेक आक्रमण हुए। खलीफा उमर ने सन् ६३६-३७ मे बम्बई के पास, मुहम्मद बिन कासिम ने ७१२ ई० में तथा सुबुक्तगीन ने सन् ९७६ के लगभग हमगान व सीस्तान की सीमा पर आक्रमण किया और जयपाल से घोर सघर्ष हुआ। उसने अतुल धनराशि लूटी एव पेशावर को अपनी सीमा मे मिला लिया। इन आक्रमणों से तुर्कों को ज्ञात हो गया कि भारत समृद्धिशाली एव युद्धकला में अकुशल देश है। सुबुक्तगीन के बेटे महमूद गजनवी ने भारत पर सत्रह आक्रमण किये। प्रथम एव द्वितीय आक्रमण उसने सीमावर्ती नगरो पर तथा भटिंडा पर किये तथा हिन्दू-सस्कृति

को विनष्ट करने का हर प्रकार से प्रयास किया। तृतीय व चतुर्थ आक्रमण सन १००६ में मीरा और मुल्तान पर किये। तदनन्तर उसने सन् १००८, १००९ ई० में भारतवर्ष पर भीषण आक्रमण किये। इसका षष्ठम आक्रमण (जिसमें आनन्दपाल से इसका भीषण युद्ध हुआ) भारत के इतिहास में परिवर्तनकारी अभियान था। तत्पश्चात् इसने थानेश्वर, कन्नौज, मथुरा, ग्वालियर आदि पर अनेक आक्रमण किए एवं रक्तपात किया। सन् १०२५ ई० में इसने अन्तिम तथा भयानक आक्रमण सोमनाथ के मन्दिर पर किया। इससे महमूद गजनवी को अतुल धनराशि प्राप्त हुई और उसने भारतीय जनता को विनष्ट करने का हर प्रकार से प्रयत्न किया और भारतीय संस्कृति को नष्ट करने में कोई प्रयास अवशिष्ट न रखा।

इसके अनन्तर मुहम्मद गोरी के रूप में भारत का दुर्भाग्य उदय हुआ। इसने सन् ११७५ में मुल्तान एवं गुजरात पर आक्रमण किया। सन् ११८३ तथा ११९१ ई० में उसने पंजाब, सिन्ध तथा सरहिन्द आदि प्रदेशों पर अधिकार किया। सन् ११९३ एवं ११९४ ई० में उसने क्रमशः पृथ्वीराज और जयपाल को बुरी तरह पराजित किया।

भारत पर सन् १२०६ से १२१० ई० तक गुलाम-वंश के बादशाह कुतुबुद्दीन ने राज्य किया। गुलाम-वंश के राज्य-काल में ही चंगेजखाँ का विनाशकारी आक्रमण हुआ। इस वंश के शासकों में बलबन अत्यन्त कठोर शासक था।

इसके पश्चात् खिल्जी-वंश का उदय हुआ। इसका प्रमुख शासक अलाउद्दीन बहुत क्रूर व्यक्ति था। हिन्दुओं का उसने पूर्ण रूप से विनाश करने का प्रयत्न किया। वह धर्मान्ध था, परन्तु इस्लाम के धर्माधिकारियों पर भी उसने अपना प्रभुत्व जमाया, जिससे मुस्लिम-साम्राज्य की जड़ और भी दृढ़ हो गई। उसने १२९६ ई० में देवगिरि तथा दौलताबाद पर आक्रमण करके उन्हें भली-भाँति लूटा। सन १२९८ ई० में दिल्ली पर मुगल सरदार ख्वाजा का आक्रमण हुआ। उसने अन्य कई राज्यों को भी पराजित किया।

खिल्जी-वंश के अनन्तर भारतवर्ष पर तुगलक-वंश का राज्य हुआ। इसके शासक फिरोज तुगलक ने हिन्दुओं के प्रति धार्मिक कट्टरता का व्यवहार किया यद्यपि उसकी माता हिन्दू थी। फिरोजशाह तुगलक के पश्चात् कोई भी योग्य शासक इस वंश में नहीं हुआ। इस वंश के अन्तिम शासक के समय में तैमूर-लंग का भारत पर आक्रमण हुआ। उसका यह आक्रमण इस्लाम धर्म के प्रचार तथा मूर्तियों के उन्मूलन हेतु था। पंजाब से दिल्ली तक उसने अत्यन्त

भीषण अत्याचार किए तथा असंख्य हिन्दुओ को मृत्यु के मुख मे झोंका । यह विनाशकारी आक्रमण भीषण अकाल तथा अराजकता छोड गया ।

राजधानी पर कुछ दिनो वजीर इकबालखाँ का अधिकार रहा । तत्पश्चात् सल्तनत लोदी-वंश के हाथ मे आ गई । बहलोल लोदी के पश्चात् उसकी हिन्दू सुनार पत्नी का पुत्र सिकन्दर शाह गद्दी पर बैठा । यह कट्टर मुसलमान तथा हिन्दुओं का घोर विरोधी था । इसने पवित्र नदियो मे स्नान का निषेध कर दिया तथा मन्दिरों को ध्वस्त करने मे अत्यन्त रुचि प्रदर्शित की ।

संत-कबीर इन्हीं के समकालीन थे । कबीर पर इसने हाथी छुड़वाया तथा गगा मे उन्हे डुबाने का प्रयत्न किया । यह निरंकुश सुल्तान था । इसने १,५०० हिन्दुओं की एक दिन मे हत्या करवा डाली तथा उन पर मनमाने अत्याचार किये ।

इस वंश के अन्तिम शासक इब्राहीम लोदी का बाबर से पानीपत का प्रथम युद्ध हुआ और सत्ता मुगल वंश के हाथो में आ गई । बाबर ने भी इस्लाम के प्रचार के लिए हिन्दुओं के सिर कटवा-कटवाकर ढेर लगवा दिए । हिन्दुओं के प्रति वह बड़ा ही कटु तथा विषम था ।

बाबर के बाद हुमायूँ शासक हुआ । शेरशाह सूरी ने हुमायूँ को हरा दिया और स्वयं भारतवर्ष का शासक बन बैठा । यह बहुत न्यायप्रिय तथा धर्म-निरपेक्ष बादशाह था । प्रजा में यह सर्वप्रिय शासक था । इसकी राजनीति अति उत्तम थी । इसके राज्यकाल में प्रजा मे सर्वत्र शान्ति थी । इस काल में सूफी कवि जायसी का आविर्भाव हुआ जिसने 'पद्मावत' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना-की ।

शेरशाह के उत्तराधिकारी योग्य न होने के कारण, हुमायूँ फिर से शासक बन गया । हुमायूँ के बाद अकबर शासक हुआ । अकबर ने हिन्दुओं को उच्च पद दिये तथा राजपूत स्त्रियों से विवाह किये । इतिहासकारो का कथन है कि वह हिन्दुओं के प्रति उदार तथा नीति मे सहानुभूतिपूर्ण था ।

सथुरादास ने अपने धार्मिक ग्रन्थ मे अकबर की धर्मसहिष्णु नीति का परिचय दिया है । उसने हिन्दुओं एव मुसलमानों को समानाधिकार प्रदान किये । उसका शासन सब जातियों एव धर्मों का सम्मिलित शासन था ।

अकबर के पश्चात् उसका पुत्र जहाँगीर सिंहासनारूढ हुआ । उसकी धार्मिक नीति अकबर के समान ही थी, फिर भी वह मुसलमानों का थोडा पक्षपात अवश्य करता था । जो लोग मुसलमान हो जाते थे उन्हे वह अधिक सम्मान प्रदान करता था । सामान्यतया वह अकबर की तुलना मे हिन्दुओं के प्रति किंचित् कठोर था ।

सन् १६२८ ई० मे शाहजहाँ गद्दी पर बैठा। वह हिन्दू माता का पुत्र होने पर भी इस्लाम का पक्षपाती था। उसने हिन्दुओ पर अनेक कर लगा दिए। उच्चपद केवल मुसल्मानों को ही प्रदान किये। यह देखकर मुसल्मान कर्मचारियो ने भी हिन्दुओं को उत्पीड़ित करना आरम्भ कर दिया। शाहजहाँ ने जुझारसिंह के परिवार को मुसलमान बना लिया। निर्धनों पर वह दया करता था। शाहजहाँ की धार्मिक नीति किंचित् संकुचित एवं अनुदार थी। कालान्तर में शाहजहाँ को कैद करके उसके बेटे औरंगजेब ने सल्तनत का शासन-भार स्वय सँभाला। वह कट्टर मुसलमान एव हिन्दुओं का उत्पीड़क था। उसने हिन्दुओं पर जज़िया कर लगा दिया तथा सहस्रों मन्दिरों को नष्ट करवा दिया। उसके राज्यकाल मे हिन्दू अपने त्यौहार भी नहीं मना पाते थे। उनसे उच्चपद भी छीन लिये गए। इस दमन-नीति की प्रतिक्रिया सिक्खों में हुई। औरंगजेब ने गुरु तेगबहादुर-जैसे संत को प्राणदण्ड दिया। औरंगजेब का राज्यकाल हिन्दुओं के जीवन की अत्यन्त करुण गाथा है। उनके पुस्तकालय जला दिए गए, धर्मशालाएँ नष्ट कर दी गई, उनका जीवन विडम्बना बन गया।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसका बेटा बहादुरशाह सत्ताधिकारी हुआ। पाँच साल इसका सिक्खों से युद्ध चलता रहा। बहादुरशाह की मृत्यु के बाद अनेक वर्षों के संघर्ष के अनन्तर उसका बेटा मुहम्मदशाह बादशाह बना। १७३९ ई० में पर्शिया के सुल्तान नादिरशाह का भारत पर आक्रमण हुआ। नादिरशाह भारतवर्ष में विनाश, संहार, शोषण, उत्पीडन तथा लूट-मार का सन्देश लेकर आया। नादिरशाह ने मुहम्मदशाह को परास्त किया एव कत्ले-आम का आदेश दिया। इससे मुगलों की शक्ति अति क्षीण हो गई।

सन् १७४३ और १७५१ ई० में मराठों ने मालवा, उडीसा व बगाल पर अधिकार कर लिया। अहमदशाह दुर्रानी के चतुर्थ आक्रमण में मराठे पराजित हुए। मराठा शक्ति क्षीण होते ही अंग्रेजी जाति की शक्ति का प्रसार होने लगा। सन् १७७४ से १७८५ ई० तक गवर्नर-जनरल लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति को कार्यान्वित किया।

इस तरह इन पाँच सौ वर्षों का भारतवर्ष का इतिहास घोर अशान्ति एव अनिश्चित परिस्थितियों का इतिहास है। दिल्ली के सिंहासन पर अनेक वंश आये एव अतीत मे लीन हो गए। प्रत्येक वंश अपनी मान्यताएँ संस्थापित करता हुआ शून्य मे मिल गया। इस अशान्ति तथा कोलाहलपूर्ण वातावरण का सन्त कवियों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। वे इस चतुर्दिक् अशान्ति से व्यथित हो गए।

इसीलिए उन्होंने प्रेम, शान्ति, सदाचार तथा विश्वबन्धुत्व का सन्देश जनता मे प्रसारित किया।

समाज जनता की समष्टि की दूसरी सज्ञा है। समाज का उत्थान अथवा पतन, जनता का उत्थान अथवा पतन है। समाज की उन्नति जनता की उन्नति है। जन-जीवन की प्रतिच्छाया समाज को आच्छादित करती है। देश की परिस्थितियो से सामाजिक परिस्थितियो का निर्माण होता है। इन पॉच सौ वर्षों की अनिश्चित राजनीतिक परिस्थितियो से जन-जीवन शोषण, उत्पीडन तथा अत्याचारो की करुण गाथा बन गया।

सामाजिक परिस्थितियाँ

मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से लेकर ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के सस्थापन तक भारतीय जीवन निरन्तर उत्पीडित होता रहा। अतः इन पॉच सौ वर्षों मे भारत की सामाजिक परिस्थितियॉ भी शोचनीय रही।

सल्तनत-काल मे शासको की इच्छा ही सर्वोपरि थी। हिन्दुओ का अस्तित्व उस समय भी सुरक्षित न था। अत्याचारो तथा उत्पीडन के नैराश्य ने हिन्दुओ के धार्मिक विश्वास की जड़ो को हिला दिया। हिन्दू और मुसलमान कभी एक न हो सके क्योकि उनके सिद्धान्तों मे भेद था। इसलिए समाज दो वर्गों मे विभाजित था—(१) मुसलमानी-समाज, (२) हिन्दू-समाज।

मध्य-युग मे विलासिता का राज्य था। प्रजा की श्रम से अर्जित कमाई सुल्तानों तथा अमीरों के ठाट-बाट तथा विलास पर व्यय होती थी। प्रजा का हितैषी कोई भी न था। प्रजा पूर्णतया उपेक्षित तथा दरिद्रता से अभिशप्त जीवन व्यतीत कर रही थी। योग्य मुसलमान शासक-वर्ग मे मिल जाते थे तथा साधारण मुसलमानो के लिए खानकाह खुले थे जिनमें उनके हेतु भोजन की व्यवस्था थी। इसलिए मुसलमानो को कुछ भी परिश्रम अथवा व्यवसाय नहीं करना पड़ता था। विलासिता मुस्लिम-समाज की अभिन्न अग बन गई थी। मध्य-युग असमानता का समय था। सुन्नी तथा शिया मुसलमानो मे धार्मिक एव सामाजिक भेद था। मुसलमानों मे दास-प्रथा का प्रचलन था। अनेक दासो का क्रय-विक्रय प्रतिवर्ष होता रहता था। राजकीय दासो की संख्या बहुत अधिक थी। जिस व्यक्ति के पास अधिक दास होते थे, वह अधिक धनी व्यक्ति माना जाता था। दासो की दशा अति शोचनीय थी। दासियों को तो काम-क्रीडा का साधन भी बनाया जाता था। व्यभिचार का बोलबाला था। इस युग मे हरम मे अधिक-से-अधिक सुन्दरियो को रखने का प्रचलन था।

मुसलमानी-समाज

अकबर के हरम मे ५,००० से अधिक सुन्दरियॉ थीं। लोग वेश्याओं और नर्तकियों से मनोरजन करते थे। वेश्याओं के यहॉ राजकुमारों को अदब तथा कायदे की शिक्षा दी जाती थी। मास-भक्षण का प्रचलन था। रंग-बिरंगे कपड़े पहनने की प्रवृत्ति इस काल मे थी। रेशम और मलमल का प्रयोग अधिक होता था।

इस युग में समाज तीन वर्गों में विभक्त था। प्रथम था उच्च-वर्ग, जिसमें राज-कर्मचारी तथा अधिकारी-वर्ग का उल्लेख होता था। यह वर्ग अपना समय मास, मदिरा एव नारी के साथ क्रीडा करने में ही व्यतीत करता था। द्वितीय वर्ग मे मध्यवर्ती स्थिति के लोग थे। इन लोगों में उच्च-वर्ग के सभी दोष विद्यमान थे। अत' यह वर्ग भी निकम्मा हो चुका था। तृतीय वर्ग मजदूरों का था। यह वर्ग दिन-भर कठोर परिश्रम करता था, परन्तु फिर भी भरपेट भोजन या तन ढकने को कपड़ा उन्हें नहीं नसीब था। यह अभिशप्त वर्ग था। इस वर्ग का जीवन कष्टमय था। इनके भाग्य में छप्पर से ढके हुए मकान थे। ये आधी रोटी खाकर और आधी धोती पहनकर जीवन-यापन करते थे। अभियानों और आक्रमणों के फलतः इनका जीवन विषम ही बना रहता था। ये भाग्य और भगवान् से हर प्रकार वचित तथा पीडित रहते थे।

हिन्दू-समाज चार वर्णों में विभक्त था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें से ब्राह्मण-वर्ग उच्च माना जाता था। परन्तु इस वर्ग में बहुत चारित्रिक

हिन्दू सामाजिक जीवन

दोष आ गए थे। यह निम्न-वर्गों का शोषण करने में सलग्न रहता था। प्रत्येक वर्ण पथभ्रष्ट और कर्तव्य-च्युत् हो गया था। सब वाह्याचारों में सलग्न थे। हिन्दुओं में मूर्ति-पूजा प्रचलित थी। देवताओं की मान्यता, पूजा एवं अनुष्ठानों में अन्धविश्वास का बहुत आधिक्य था। मध्य-युग में जाति-व्यवस्था बहुत कडी थी। वाह्याडंबर व्यापक थे। इन्हीं कारणों से हिन्दू सभ्यता प्रगति न कर सकी और पतन के गर्त मे गिरती गई। शूलपाणि उपाध्याय, कमलाकर भट्ट, नीलकंठ भट्ट इत्यादि के ग्रन्थों में हिन्दुओं का कट्टर व जटिल रूप मिलता है। हिन्दू समय-समय पर अत्याचारों का विरोध भी करते थे। परन्तु राज्य मुसलमानों का ही था, अतः मनमाने अत्याचार होते जा रहे थे। धर्म के नाम पर रक्तपात होता रहना साधारण बात थी। हिंदुओं का जीवित रहना एक समस्या बन गई थी। हिंदुओं के समाज पर चारों ओर से आक्रमण हो रहे थे।

इस युग का हिन्दू-समाज तीन वर्गों में विभाजित था—

(१) प्रथम वर्ग राजाओ व धनिको का था, जो वीरता के स्थान पर विलासिता को अपनाये हुए था। पराधीनता मे भी वह मगन था। (२) द्वितीय वर्ग साधारणजन का था, जो परवश होकर मुस्लिम-समाज में मिलने को बाध्य था। (३) तृतीय वर्ग मे पडित-वर्ग आता है जो जाति-पाँति के कटु परिणामों को जान चुका था और समाज के स्तर को ऊपर उठाने मे प्रयत्नशील था।

मध्य-युगीन समाज रूढ़िवादिता तथा अन्धविश्वासों से अभिशप्त था। ये अन्धविश्वास दोनो वर्गों को ग्रसित किए हुए थे। हिन्दुओ के साथ अत्यन्त कठोर व्यवहार होता था। समाज मे असमानता थी। हीन प्रवृत्तियाँ जनता को दबाये हुए थीं। स्त्रियों की अवस्था और भी विकृत एव शोचनीय थी।

नारी की समस्या

मध्य-युग मे नारी की दशा अत्यन्त हीन थी। उस समय अन्य वस्तुओं के सदृश नारी भी सपत्ति समझी जाती थी। उसे केवल भोग की सामग्री समझा जाता था। सुन्दर नारियों के लिए विकट युद्धों का आयोजन होता था। इसी कारण परदे तथा बाल-विवाह की प्रथाएँ चल पडीं। राजपूतो मे तो कन्या की हत्या तक कर डालने की प्रथा थी। नारी का कामुक रूप ही मध्य-युग में देखा जाता था। इसी कारण उस समय के सत कवियो ने इन्द्रियो को जीतने की प्रेरणा दी। कर्म एव वचन में सामंजस्य स्थापित किया। जगत् की क्षणभगुरता की ओर जनता का ध्यान दिलाते हुए मुक्ति का सदेश दिया।

ऐसी विषम परिस्थितियो मे सुधार का कार्य किसी सम्राट् द्वारा ही सम्पन्न हो सकता था। शासकों मे सर्वप्रथम अकबर ने समाज में समानता लाने का प्रयास किया। उसने हिन्दू तथा मुसलमान दोनो वर्गों को सकुचित दायरे से बाहर निकालकर एकता का सदेश देने का प्रयास किया। उसने गोवध एव सती-प्रथा को रोका। मद्यपान एव वेश्यावृत्ति पर अकुश लगाया। उसने एक नवीन राष्ट्र स्थापित करने की चेष्टा की। हिन्दुओ एव मुसलमानो मे अन्तर्जातीय विवाह प्रारम्भ किये। परन्तु उसके उत्तराधिकारी यह सब न कर सके। उनकी नीति का दायरा सकुचित था।

राजनीति, समाज एव धर्म परस्पर सम्बन्धित हैं। जैसे-जैसे राजनीति में परिवर्तन होता गया, समाज भी परिवर्तित होता गया। सन् १३०० से लेकर १४०० ई० तक राजनीतिक परिस्थितियो के साथ-साथ सामाजिक परिस्थितियाँ भी बदलती रहीं। यदि कोई शासक कुछ सुधार करता भी, तो उसके प्रयास स्थायी नहीं रह पाते थे। हिन्दुओ को कई प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पडा। कोई शासक एक तरह के नियम बनाता था तो दूसरा अपने राज्य-काल मे उन्हें

छिन्न-भिन्न कर देता था। उच्च-वर्ग निम्न-वर्ग पर अत्याचार करता था। महत्त्वाकांक्षाओं की कहीं सीमा न थी। उस समय का समाज महत्त्वाकांक्षा की डोर में जकड़ा हुआ था। प्राचीन रूढ़ियाँ उसे शृंखलाबद्ध किए हुए थीं। जनता के चारों ओर अन्धकारमयी रात्रि का आवरण था। इसी अन्धकार में निर्गुण-सन्त-कवियों ने ज्ञान की ज्योति का प्रकाश दिखाया। मानव को कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करके समाज में सुचारुता लाने का प्रयत्न किया।

किसी समाज की संस्कृति ही उसके उत्थान का कारण बनती है। समाज एवं संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। समाज की परिस्थितियाँ बिगड़ने से

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

संस्कृति का भी ह्रास हो जाता है। संस्कृति जन-जीवन का परिष्कार करती है।

भारत में मुसलमानों के आगमन से पहले एक ही संस्कृति थी। तत्पश्चात् प्रस्तुत संस्कृति दो धाराओं में विभाजित हो गई। सन्त-कवियों ने इन दो धाराओं में एकात्मकता स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि मनुष्य-मनुष्य एक है। धर्म ने हमारे मध्य एक भित्ति खड़ी कर दी है। उन्होंने प्रेम और सहानुभूति का सन्देश मानव को दिया।

सन् १३०० से १४०० ई० तक देश यवन-संस्कृति से प्रभावित रहा। हिन्दुओं में परस्पर फूट थी। भाई भाई के विरुद्ध मुसलमानों को आमन्त्रित करता था। हिन्दू मुसलमान एक-दूसरे के रक्त के प्यासे हो रहे थे।

मुट्ठी भर मुसलमान बहुसंख्यक हिन्दू जाति पर राज्य करते रहे एवं मनमाने अत्याचार करते रहे, जिससे एक-दूसरे के प्रति उत्तरोत्तर घृणा बढ़ती गई। हिन्दू मूर्ति-पूजक थे, मुसलमान मूर्ति-भंजक थे। उस युग में दो संस्कृतियाँ विद्यमान थीं—

(१) मध्य-युग में हिन्दू-संस्कृति।

(२) मध्य-युग में मुस्लिम-संस्कृति।

मध्य-युग में हिन्दू-संस्कृति

यह युग हिन्दुओं में परस्पर वैमनस्य और फूट का युग था। अन्ध-विश्वास एवं साहसहीनता के कारण हिन्दू-संस्कृति शिथिल हो चुकी थी।

इस काल में विभिन्न अपभ्रंशों का विकास हुआ और प्रचुर मात्रा में साहित्य-रचना हुई। इस समय के मुख्य कवि विद्यापति, कबीर, तुलसी, मीरा, सूर, दादू, केशव आदि थे। इसी समय बंगाल में कृत्तिवास, चंडीदास, संस्कृत में जयदेव, मराठी में ज्ञानदेव, तुकाराम, रामदास जैसे प्रसिद्ध कवि हुए। राजस्थानी भाषा में चन्दबरदाई-कृत 'पृथ्वीराजरासो' और जगनिक-कृत 'आल्हा'

जैसी प्रसिद्ध रचनाएँ हुईं। इस युग मे अनेक टीकाएँ व टिप्पणियाँ लिखी गईं; उदाहरणार्थ भर्तृहरि की पातजलि के महाभाष्य पर टिप्पणी। इस समय अनेक शब्दकोषो की रचना हुई। कोष-रचयिताओ मे हेमचन्द्र, पुरुषोत्तमदेव तथा यादव भट्ट उल्लेखनीय हैं। 'न्याय' पर उद्योतकर, उदयनाचार्य, वाचस्पति मिश्र ने प्रसिद्ध रचनाएँ की। इस युग मे साख्य-योग, पूर्व-मीमासा एव वेदान्त-दर्शन पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए।

इसी युग मे 'शिशुपालवध', 'नलोदय' आदि भक्ति-काव्य-ग्रन्थ लिखे गए। शृंगार, नीति एव वैराग्य-शतको की रचना भी हुई। 'ऋतुसहार', 'मुद्राराक्षस' जैसे प्रसिद्ध नाटक तथा 'बृहत्-कथामजरी', 'दशकुमारचरित्र', 'वासवदत्ता', 'हर्षचरित' जैसी कथाओ की रचना भी इसी काल मे हुई।

विज्ञान पर भी इस काल मे महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हुईं। भास्कराचार्य ने खगोल-विद्या पर 'सिद्धान्त-शिरोमणि' ग्रन्थ की रचना की। ब्रह्मगुप्त, श्रीधर एव ब्रह्मदेव जैसे अनेक महान् लेखक हुए। गणित-शास्त्र मे आर्यभट्ट, भास्कराचार्य तथा वाचस्पति मिश्र विशेष प्रसिद्ध हुए। आयुर्वेद में 'अष्टाग-सग्रह', 'माधव निदान', 'चिकित्सा-सार-सग्रह' एव 'शारङ्गधर सहिता' जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थो की रचना हुई। प्रेम, भाषा-विज्ञान एव शल्य-चिकित्सा पर भी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस युग मे लिखे गए। इस समय कृषि-विज्ञान पर भी ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें से 'कृष्ण-सग्रह' एव 'प्राकृतप्रकाश' उल्लेखनीय हैं।

विश्वविश्रुत आचार्य शकर इसी युग के दार्शनिक थे, जो हिन्दू-धर्म के आधारस्तम्भ माने जाते हैं। उन्होने वेदान्त पर प्रसिद्ध ग्रन्थ रचे। इसी समय

दर्शन एवं धर्म

में अन्य कई विचारक हुए, जिनमे रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य एव निम्बार्काचार्य आदि प्रमुख है। इस युग मे राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, दुर्गा, चडी, उमा, लक्ष्मी आदि का पूजन होता था। बलि-प्रथा का भी प्रचलन था।

इस युग मे कला की भी प्रचुर उन्नति हुई। तत्कालीन कला की अभिव्यक्ति

कला

मन्दिरो एव मूर्तियो मे हुई। मूर्ति-निर्माण एवं मन्दिरो के निर्माण की कला मे विशेष उन्नति हुई।

यवनों के आक्रमणो के पश्चात् १५वीं शती मे पहाडी-चित्रकारी एव राजपूत-चित्रकारी का आविर्भाव हुआ। इस समय तक कागज का प्रचलन होने

राजपूत-चित्रकारी

के कारण कागज पर चित्रकारी होने लगी थी। राजपूत-कला मुगलो के सरक्षण मे उन्नति करती गई। इसके प्रचार-क्षेत्र मालवा, मेवाड, उदयपुर, अजमेर, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर,

[illegible]

कोटा, दतिया, किशनगढ़ तथा नाथद्वारा थे। इससे पहले गुजराती-कला अपने शिखर पर थी। १७वीं शती में राजपूत-चित्रकला अपने पूरे यौवन पर थी। अधिकतर कृष्ण-लीला, नायिका-भेद, शिकार के दृश्य, यात्रा, समारोह आदि विषयों पर चित्रांकन होता था। राजपूत-कला की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) मौलिक शक्ति एवं वीरता।
(२) व्यक्त भावों की सरलता एवं प्रत्यक्षता।
(३) परम्परागत तात्पर्य।
(४) आह्लाद एवं चमत्कार।
(५) सजावट।

इसके साथ ही पहाड़ी-चित्रकला का विकास काश्मीर में हुआ। इसमें भी सजीवता थी। १८वीं शती में दोनों कलाएँ पतन के गर्त में विलीन हो गईं।

नृत्य एवं संगीत

मध्य-युग नृत्य एवं संगीत की उन्नति का युग भी था। कथक-नृत्य, देवदासियों के भरत-नाट्यम् एवं मणिपुरी नृत्यों का विकास हुआ।

संगीत में कई राग-रागनियाँ प्रचलित हुईं। तबला, सितार, सारंगी आदि वाद्यों की रचना हुई। इस काल में कोहल, दन्तिल, सारंगदेव, बाबा हरिदास, दामोदर, ओहोबल, व्यंकटमुखी आदि ने संगीत-ग्रन्थों की रचनाएँ कीं। ताल-वलय की नई विधियाँ निकाली गईं। इस समय कई शासक संगीतज्ञ हुए, जिनमें से गोपाल नायक, बैजू बावरा, तानसेन, बाबा हरिदास, अदारंग, सदारंग एवं नायक बख्श प्रमुख हैं। इस कला का पतन औरंगजेब के शासनकाल में आरम्भ हो गया।

निर्माण-कला

मध्य-युग में मन्दिर-निर्माण-कला की विशेष उन्नति हुई। इनको विमान भी कहा जाता था। ये ऊपर से स्तूपाकार बने होते थे। राजपूताना, मध्य-भारत, गुजरात एवं आबू पर्वत के मन्दिर दर्शनीय हैं। जोधपुर का महा-मन्दिर, आबू पर्वत का विमला-मन्दिर कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसी प्रकार बम्बई का अमरनाथ मन्दिर तथा ग्वालियर का सासबहू मन्दिर कला की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। इस युग के काश्मीर के मन्दिरों की कला तो सर्वांगपूर्ण है।

जाति-प्रथा

मध्य-युग में हिन्दू-समाज चार जातियों में विभाजित था। ब्राह्मण-जाति सर्वोत्कृष्ट थी। इनका राजाओं के यहाँ भी मान था। इनका काम विद्या पढ़ना या अध्ययन होता था। ये शास्त्रों का

अध्ययन करते रहते थे। इनके अनन्तर क्षत्रिय थे, जिनका कार्य प्रमुखतया शासन एवं युद्ध करना था। वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि से तृतीय स्थान मे वैश्य-जाति थी, जिसका मुख्य कार्य वाणिज्य-व्यापार करना था। हिन्दू-समाज में चतुर्थ जाति शूद्र थी। इसका धर्म सब जातियों की सेवा करना था। कायस्थ एक अन्य प्रकार की जाति थी। ये जातियाँ प्रायः परस्पर विवाह-सम्बन्ध भी कर लेती थीं। समाज में स्त्रियों का सम्मान था। मदालसा, लक्ष्मी, सुभद्रा, इन्द्रलेखा जैसी कवयित्रियाँ इस युग में हुई।

मध्य-युग में मुस्लिम-संस्कृति

मध्य-युग मुस्लिम-सस्कृति का युग था। इसके प्रचार के कारण सर्वत्र अशान्ति, भ्रष्टाचार व अत्याचार का फैलाव था। शासकों की सस्कृति होने के कारण इसमे अनेक दोष परिव्याप्त थे। इस सस्कृति की विशेषता थी असहिष्णुता। धार्मिक क्षेत्र मे मुसलमान बड़े ही असहिष्णु थे।

इस युग में फारसी मे प्रचुर साहित्य की रचना हुई। इसमे धर्मनिरपेक्ष गद्य की रचना हुई। सुल्तान विद्वानों को समुचित सम्मान प्रदान करते थे।

साहित्य

दिल्ली विद्वानों का केन्द्र बन गया था। इस समय विद्यालयों, विश्वविद्यालयों एव पुस्तकालयो की स्थापना हुई। विश्व-विद्यालय जालधर, दिल्ली, फिरोजाबाद एवं जौनपुर मे थे। कलाकौशल की शिक्षा के लिए कारखाने थे। इस समय उत्कृष्ट फारसी-साहित्य की रचना हुई, जिनमें 'हसन निजानी', 'ताजुल मआसिर', 'तबक़ात-ई-नासीरी', 'तारीख़-ई-फ़िरोजशाही', 'फतह-अस-सलातीन' उल्लेखनीय हैं। इस समय प्रचुर कथा-साहित्य भी रचा गया। उच्च कोटि के ग्रन्थों में 'जवाभी-उलहिकाया', 'मत्ला-उल-अनकर', 'तफ़ायत-नसीह', 'फतवा-ई-जहान्दारी','फ़िग-इ-फिरोजशाही' उल्लेखनीय हैं। अनेक यात्रियों ने यात्रा-विवरण भी लिखे। इन यात्रियो में मार्को-पोलो, इब्नबतूता, माह्यान, कोन्टी, सिदीअली-रईस प्रमुख हैं।

इस काल में पाठशालाओं मे धार्मिक शिक्षा अनिवार्य थी। हर पाठशाला मे एक मस्जिद होती थी। मुगल-काल में पाठशाला में कुरान की पाँच आयतों का कंठाग्र करना अनिवार्य था। अकबर एव जहाँगीर विद्वानो का आदर करते थे। अकबर के दरबार मे अबुलफ़जल, मुल्ला दाऊद, फैजी सरहिंदी, अबुलवकी, अब्दुर्रहीम, मुहम्मद हुसैन, नाजरी तथा शिराज जैसे प्रसिद्ध साहित्यिक थे। जहाँगीर के दरबार मे गयासबेग, नकीबखाँ, मुतामिदखाँ, नियामुतुल्लाह आदि प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनके द्वारा साहित्य की खूब रचना हुई।

औरंगजेब के राज्य-काल में यह प्रगति क्षीण हो गई, पर गुप्त रूप से कुछ रचनाएँ फिर भी हुईं।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् साहित्य में क्रमशः अश्लीलता का समावेश होता गया।

मुगल-वंश के काल में काव्य ने बहुत प्रगति की। बाबर, हुमायूँ एवं अकबर स्वयं कवि थे। जहाँगीर भी साहित्यिक रुचि-सम्पन्न था। शाहजहाँ ने भी कला एवं साहित्य को प्रेरणा दी। इस काल में अबुलफ़जल, मुहम्मद सलीह, मुहम्मद वारिस प्रमुख कवि थे। गजल व कसीदा में काव्य-रचना हुई। 'पादशाहनामा', 'शाहजहाँनामा' व 'अमल-इ-सलीह' आदि ऐतिहासिक ग्रंथ भी लिखे गए।

नृत्य एवं संगीत

इस काल में नृत्य का स्तर बहुत गिर चुका था और नृत्य विलासिता में परिणत हो चुका था। परन्तु संगीत की इस युग में बहुत प्रगति हुई। संगीतज्ञों को प्रोत्साहन मिला। फ़िरोज तुगलक प्रसिद्ध संगीतज्ञ था। राजा मानसिंह तो ध्रुवपद के रचयिता माने जाते हैं, उन्होंने कई राग भी बनाए। मुगलों ने भी संगीत को प्रोत्साहित किया। अकबर के समकालीन बाजबहादुर, हरिदास, रामदास, सुभानखाँ, दाऊद धारी, मियाँ नानक प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। बाबर, हुमायूँ और अकबर स्वयं संगीत-प्रेमी थे। तानसेन अकबर के दरबार का प्रसिद्ध गायक था। जहाँगीर एवं शाहजहाँ के शासन-काल में भी कई प्रसिद्ध संगीतज्ञ हुए। औरंगजेब को संगीत से घृणा थी।

निर्माण-कला

इस युग में भव्य भवनों का निर्माण हुआ। मुगल-काल में इस कला की विशेष उन्नति हुई। अकबर हिन्दू-निर्माण-शैली का पक्षपाती था। आगरा में जहाँगीरी महल इस शैली का ज्वलन्त उदाहरण है। दीवान-आम, पचमहल, सिकन्दरा, अकबर की समाधि एवं जोधाबाई का महल भी इसी शैली के सुन्दर उदाहरण हैं। मुस्लिम-निर्माण-कला का सौंदर्य ताजमहल के रूप में मुखरित हो उठा। शाहजहाँ के पश्चात् इमारतों पर पाश्चात्य प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा।

चित्र-कला

चित्र-कला का विकास इस युग में बहुत नहीं हुआ, क्योंकि मुसलमान इसे मूर्ति-पूजा से सम्बन्धित मानते थे। मुगल इस कला को फारस से लाए थे। हुमायूँ फारस से दो चित्रकार लाया था। जहाँगीर भी चित्रकला का प्रेमी था। शाहजहाँ भी चित्रकला में रुचि रखता था। परन्तु औरंगजेब के समय में सब कलाएँ विलीन हो गईं।

आर्थिक परिस्थितियाँ

धन की आवश्यकता जीवन के हर पक्ष मे होती है। देश की आर्थिक परिस्थितियो का प्रभाव तात्कालिक परिस्थितियो पर पडता है। किसी देश की उन्नति के लिए धन नितान्त आवश्यक है।

मध्य-युग मे आर्थिक परिस्थितियाँ बहुत ही शोचनीय थी। आक्रमणो और लूट-मार ने जन-जीवन खोखला कर दिया था। अकाल और भुखमरी ने रही-सही शक्ति को भी विनष्ट कर दिया था। ऐसे समय मे आर्थिक स्थिति क्या हो सकती थी?

इन आक्रमणों से पूर्व यह देश अति समृद्धिशाली था। यहाँ दूध और घी की नदियाँ बहा करती थीं। परन्तु रक्तपात एव अत्याचारो ने इस देश को उजाड दिया। महमूद गजनवी एव मुहम्मद गोरी के आक्रमणों ने भारत को सर्वाधिक क्षति पहुँचाई। उनके अनन्तर जितने वश भारत के सिहासन पर आये सबने भारत का शोषण ही किया।

फिरोज तुगलक के शासन-काल मे बहुत भारी अकाल पड़ा। सहस्रो व्यक्तियों ने अकाल से पीड़ित होकर आत्महत्या की। ऐसा ही अकाल मुहम्मद तुगलक के शासन-काल मे पडा। जनता भूख से प्राण दे रही थी। पर शासन-अधिकारी कोडे मार-मारकर जनता से कर वसूल कर रहे थे। यातायात के साधन न होने से जनता की और भी दुर्दशा होती थी। दुर्भिक्ष के समय अनाज का भाव भी बढ जाता था। फिरोफ तुगलक ने दशा सुधारने की चेष्टा की, परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् दशा और भी गिर गई।

इन दिनों व्यापार स्थल एव जल-मार्ग द्वारा होता था। परन्तु हिन्दू-जनता तब भी पीड़ित ही थी। उसका कार्य परिश्रम करना-भर था।

सन् १३९८ ई० मे तैमूर का भयानक आक्रमण भारत पर हुआ। हिन्दुओ को पराजित करके उनको खूब लूटा गया। खेती-बारी पूर्णतया नष्ट कर दी गई। इस आक्रमण ने भारत की स्थिति पर तुषारपात किया।

बाबर एव हुमायूँ के समय की आर्थिक स्थिति कुछ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। परन्तु अकबर के समय भारत की आर्थिक दशा अच्छी थी।

मुगल-युग मे भारत के प्रसिद्ध नगर आगरा, फतेहपुर, लाहौर, बुरहानपुर, पटना, राजमहल, बर्दवान, हुगली, ढाका आदि थे।

सन् १५७७ ई० में अकबर ने टकसाले खुलवाईं एव उनके दारोगा नियुक्त किये। उन टकसालो मे एक तौल तथा माप के सिक्के बनवाये। वस्तुओ के भाव नियत किये। यह सब जनता की सुविधा के हेतु था। इस युग मे भारत अपने रेशमी कपडों के लिए प्रसिद्ध था और व्यावसायिक दृष्टि से भी समृद्ध था।

भारत के मुख्य वस्त्र-व्यवसाय-केन्द्र पटना, बनारस, गुजरात तथा खानदेश आदि थे।

सन् १५५५ तथा १५५६ ई० में बियाना के समीपवर्ती प्रदेशों में भीषण दुर्भिक्ष पडा। इसके विषय में बदायूनी ने लिखा है कि लोग मानव-माँस तक खाने को तत्पर हो गए थे। इसके अनन्तर फिर दो दुर्भिक्ष पडे तथा महामारी का प्रकोप भी हुआ। ये दुर्भिक्ष बाबर, हुमायूँ तथा अकबर के शासन-काल मे पडे। शाहजहाँ के समय गुजरात मे भयानक दुर्भिक्ष पडा। ऐसे अनेक दुर्भिक्षों का सामना भारत की निरीह जनता को करना पड़ा। इन दुर्भिक्षों ने मानव का जी भरकर शोषण किया। मानव, मानव न रहकर दानव बन गया।

मुगल-काल में अन्न-समस्या मुख्य थी, जिसे सुलझाने का प्रयत्न मुगल-शासकों ने किया। परन्तु उससे उच्च-वर्ग का ही लाभ हुआ। निम्न-वर्ग आद्योपात पीडित ही रहा। समाज मे विषमता तथा जटिलता आ गई। इस प्रकार दासता की भावना को प्रोत्साहन मिला।

हिन्दुओ की आर्थिक स्थिति बहुत ही शोचनीय थी। उनकी आधी आय तो कर देने में चली जाती थी जो उच्च-वर्ग की विलासिता में व्यय होता था। उच्च-वर्ग तो शासक के समान ही विलास मे रत रहता था। मध्य-वर्ग भी सुखी था। शासकों द्वारा निम्न-वर्ग का शोषण होता जा रहा था। अकबर के समय में निम्न-वर्ग भी सुखी था। जहाँगीर के काल में मज़दूरों से बेगार ली जाती थी। उनको एक समय भी पेट-भर भोजन प्राप्त नहीं होता था।

जनता की आर्थिक दशा अकबर के समय में तो अच्छी थी। शाहजहाँ भी स्वय आर्थिक विभाग की देख-भाल करता था। परन्तु औरगजेब के समय में जनता की दशा बहुत हीन हो गई। औरगजेब हिन्दुओं से कर भी बहुत लेता था। उसकी फ़ौजें जनता की खेती को रौंदती हुई अग्रसर होती जाती थीं। जनता में त्राहि-त्राहि मची हुई थी। भ्रष्टाचार का आधिक्य था।

अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ के समय व्यापार ने समुचित उन्नति की। परन्तु औरगजेब के समय में इसका भी ह्रास हो गया। उसके शासन-काल में व्यापारियो का जीवन विषम हो गया था। उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध नहीं था। करों की वृद्धि ने व्यापार का सर्वथा नाश कर दिया। हिन्दू व्यापारियो की दशा तो और भी हीन थी।

औरगजेब के पश्चात् कई शासक भारत के राजसिंहासन पर आसीन हुए, परन्तु कोई भी स्थिर न रह सका। उन बादशाहों के नाम ये : बहादुरशाह, जहाँदार, फर्रुखसियर, मुहम्मदशाह, अहमदशाह, आलमगीर सानी, शाह आलम।

इस कारण भारतीय शासन की स्थिति ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना तक अस्थिर रही।

सन् १७०७ से १७५९ ई० तक भारत की आर्थिक दशा विकृत होती गई। बहादुरशाह को कई युद्ध करने पडे। सिक्खो, मराठों तथा सैयदों के कारण निरन्तर युद्ध होते रहे। सन् १७३९ में नादिरशाह ने आक्रमण किया, जिससे देश की अवस्था ओर भी बिगड गई। तत्पश्चात् अहमदशाह दुर्रानी के चार भयानक आक्रमणो ने तो जनता की कमर ही तोड दी और उसे हर प्रकार से अशक्त कर दिया। समाज की स्थिति विषम से विषमतर होती गई। व्यापार का तो सर्वनाश ही हो गया। संत-कवि चरनदास ने इसका चित्रण बहुत सुन्दर ढग मे किया है।

मुगल-काल मे उच्चवर्ग अपनी विलासिता मे डूबा हुआ यह भूल जाता था कि निम्न-वर्ग के प्रति भी उनका कुछ दायित्व है। उच्च-वर्ग स्वार्थी और लम्पट था। जनता मे भेद-भाव उत्पन्न हो गया। भारत का निम्न-वर्ग तो सर्वथा कगाल हो गया। कबीर ने जनता को संतोष का सदेश दिया। उन्होने कहा कि संतोष ही श्रेष्ठ धन है।

सत-कवियो ने तृष्णा को त्याज्य बताया। उन्होंने बारम्बार बताया कि शान्ति का मार्ग तृष्णा के त्याग मे ही निहित है। उन्होंने यह भी बताया कि किसी का शोषण करना असगत है। संतो के अनुसार धन अभिशाप है, वरदान नहीं।

मध्य-युग मे जनता एक ओर तो उच्च-वर्ग का शिकार बनी हुई थी, दूसरी ओर दुर्भिक्ष की चक्की मे पिस रही थी। इसी कारण सत-कवियों ने ईश्वर-प्रेम का मार्ग बताया।

समाज, धर्म और साहित्य परस्पर अन्योन्याश्रित है। एक की क्षति होने से दूसरों पर भी उसका प्रभाव पडना अवश्यम्भावी है। १३वीं शती से १४वीं

धार्मिक परिस्थितियाँ

शती तक भारतवर्ष पर मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण होते रहे और हिन्दुओ को नारकीय यत्रणा मिलती रही। इस यातना से छुटकारा पाने के लिए असख्य हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म अगीकार कर लिया।

यह समय हिन्दू-समाज के लिए अभिशप्त युग था। अनेक शासकों ने हर प्रकार से हिन्दुओ को पददलित तथा पीडित किया। उस समय शोषण, उत्पीडन तथा दमन की प्रबलता थी। विनाश का ताण्डव-नृत्य चल रहा था। समाज मे प्रत्येक दिशा से कराहने की आवाज आ रही थी।

तुगलक-वंश तो विशेषतया अस्थिर स्वभाव का था। इस काल में मानव-जीवन की नौका डगमगाती रही। मुहम्मद तुगलक तो सर्वथा क्रूर एवं महत्त्वाकांक्षी था। सन् १३९८ में तैमूर के विनाशकारी आक्रमण ने तो हिन्दू-संस्कृति को विनष्ट कर दिया। तैमूर क्रूरता तथा विनाश की प्रतिमूर्ति था।

उसके पश्चात् भारत की भाग्यडोर क्रमशः खिज्रखॉ, मुबारकशाह, बहलोल लोदी के हाथों में आई। इतिहासकारो के मतानुसार खिज्रखॉ तो अच्छा शासक था, परन्तु मुबारकशाह अस्थिर प्रकृति का व्यक्ति था। सिकन्दर लोदी हिन्दू-विरोधी शासक था। न जाने कितने हिन्दुओ की उसने हत्या करवा डाली! वह नृशंस शासक था। कबीर उसी के समकालीन थे। कबीर ने देश की विकृत परिस्थितियॉ देखीं। जनता को पतन के गर्त में गिरते देखा तथा उन्होंने मानव को दानव बनते देखा। भवानी, काली, शक्ति आदि की उपासना में हिन्दू-समाज अपना मन बहला रहा था। सर्वत्र कृत्रिमता का आवरण था। धर्म का पवित्र रूप असत्य तथा अन्धविश्वासो के आवरण से आच्छादित था। नरबलि तथा पशुबलि में ही जनता अपना उद्धार मानने लगी थी। कबीर ने इन सबकी कटु आलोचना की। उस समय के योगी भी भोग-लिप्सा में लिप्त थे, तथा उनके गुरु भी अहंकारी थे। धर्म का वास्तविक रूप विलीन् हो गया था। उसका स्थान मिथ्या-दंभ एवं अत्याचार ने ले लिया था। हिन्दू पत्थरों को पूजते थे, तो मुसलमान पीर-औलियों के निर्देशन में थे। साधु लोग धूर्त और पाखंडी हो गए थे। विलास और वैभव ही उनका क्षेत्र बन गया था। धर्म के नाम पर अत्याचार हो रहा था। कबीर ने इस सबका विरोध किया। कबीर मूर्ति-पूजा, नमाज़, बॉग आदि को ढकोसला-मात्र मानते थे। कबीर ने धर्म के नाम पर किए जाने वाले मिथ्या आडम्बर के विरुद्ध बहुत कुछ कहा। वे अद्वैतवादी थे। उनकी दृष्टि में राम रहीम में कोई भेद नहीं था।

बाबर एवं हुमायूँ के समय मे हिन्दू जनता भॉति-भॉति के करो में जकड़ी हुई थी। बाबर धर्म के विषय में बहुत कट्टर था। उसके शासन-काल में हिन्दू जनता का जीवन कष्टमय रहा।

अकबर की धार्मिक नीति उदार थी। वह धार्मिक नीति की दृष्टि से पक्षपात रहित था। अपने तीस वर्ष के शासन-काल में उसने हिन्दू जनता को किंचित् मात्र भी कष्ट नहीं दिया। उसकी कई हिन्दू राज्यमहिषियॉ थीं। वे धर्म के क्षेत्र में स्वतंत्र थीं। अकबर ने जजिया कर, तीर्थ-यात्रा कर भी हटा लिया था। उसने हिन्दुओ के धार्मिक ग्रन्थो का स्पष्टनार्थ अनुवाद कराया। उसने हिन्दू बन्दियों को बलात् मुसलमान नहीं बनाया। उसके राज्य में गोवध का भी निषेध था।

जहाँगीर की धार्मिक-नीति भी अकबर के समान ही थी, परन्तु स्वभावतः वह मुसल्मानों का पक्षपात करता था। अकबर के समान उसने उदार हृदय नहीं पाया था। उसने अनेक बार युद्ध में हिन्दू मन्दिरों को गिरवाया। इस्लाम-धर्म स्वीकार करने वाले हिन्दुओं को वह पुरस्कृत करता था। उसकी धार्मिक नीति कुछ संकुचित थी।

धार्मिक नीति की दृष्टि से शाहजहाँ हिन्दुओं के प्रति उदार नहीं था, परन्तु फिर भी औरगजेब की भाँति क्रूर भी नहीं था। यद्यपि उसकी माता एव दादी हिन्दू राजपूत स्त्रियाँ थीं, तथापि वह हिन्दुओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं था। गरीबों के प्रति वह दयालु था। हिन्दू तीर्थ यात्रियों पर उसने फिर से कर लगाये। हिन्दुओं से उच्च-पद छीन लिये गए। जुझारसिंह तथा उसकी पत्नी के प्रति उसका व्यवहार, हिन्दुओं के प्रति उसकी घृणा दर्शाती है। उसके राज्यकाल में हिन्दुओं का सामाजिक जीवन भी कष्टमय था।

औरगजेब कट्टर मुसलमान तथा इस्लाम का अनुयायी था। हिन्दुओं के प्रति वह बहुत क्रूर था। हिन्दुओं से उसने फौज के पद भी छीन लिए। इस्लाम के अनुसार उसने हिन्दुओं पर जजिया-कर लगा दिया। कर देने में असमर्थ हिन्दू मुसल्मान होने लगे। औरगजेब ने राज्य के समस्त मन्दिर नष्ट करवा दिए। इन सबका वर्णन औरगजेब के समकालीन कवि मथुरादास की 'मलूक-परिचई' तथा भूषण के काव्य में मिलता है। वर्तमान इतिहासकार भी इन तथ्यों से सहमत हैं। कवि मथुरादास ने गुरु तेगबहादुर के वध का भी वर्णन किया है। औरगजेब ने हिन्दुओं के धार्मिक कृत्यों पर प्रतिबन्ध लगा दिए। औरगजेब की मृत्यु के समय हिन्दुओं की स्थिति अत्यन्त हीन थी। औरगजेब के बाद बहादुरशाह बादशाह बना। उसके राज्य-काल में सिक्खों एव राजपूतों के साथ युद्ध ही चलता रहा।

उसके पश्चात् सात वर्ष तक निरन्तर कलह के बाद जहाँदार सिंहासनारूढ़ हुआ। उसको बन्दी बनाकर १९ जनवरी १७१५ को फर्रुखसियर गद्दी पर बैठा। २८ अप्रैल १७७९ ई० को उसकी भी हत्या कर दी गई। उसके पश्चात् २४ सितम्बर १७७९ ई० में मुहम्मदशाह के हाथ में राज्य की बागडोर आई। इसके शासन-काल में नादिरशाह तथा अहमदशाह के चार विनाशकारी आक्रमण हुए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना तक भारत की दशा अस्थिर ही रही।

चरनदास के युग में तृष्णा में भटकी हुई जनता दंभ एव पाखडों में लगी हुई थी। साधु इन्द्रिय-भक्त बन गए थे। योगी भी पथभ्रष्ट हो चुके थे। धर्म का रूप जटाजूट एव तिलक ही रह गया था। पडित लोग मुक्ति पाने के

मिथ्या साधनों मे रत थे। यह बाह्याचारों का युग था। समाज अन्धविश्वासों का केन्द्र-स्थल बना हुआ था। समाज अधोगति के गर्त मे पड़ा कराह रहा था।

इन सब परिस्थितियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इन ५०० वर्षों मे भारत की कितनी हीन दशा थी। हिन्दू सत-कवियों ने समाज को सन्मार्ग पर लाने के लिए निर्गुण ब्रह्म की उपासना का मार्ग प्रदर्शित किया और परस्पर एकता लाने का प्रयत्न किया।

द्वितीय परिच्छेद

सन्त-मत एवं सन्त-साहित्य

हिन्दी के संत-कवियों की परम्परा कोमलकांत पदावली के गायक, 'गीतगोविन्द' के अमर रचयिता संत जयदेव से प्रारम्भ होती है। जयदेव का समय सन् ११७९ माना जाता है। जयदेव के अनन्तर देश की ह्रासमान परिस्थितियों के साथ समय-समय पर अनेक सन्तो का आविर्भाव हुआ। इन सन्तो ने अपने युग की विषमताओं को दूर करके एक स्वस्थ और कल्याणकारी समाज-स्थापना का प्रयत्न किया। इन सन्तो में भाव-साम्य, विचार और चिन्तन-ऐक्य उपलब्ध होता है, फिर भी उनमे मौलिकता सर्वत्र विद्यमान है। हिन्दी के संतों की परम्पराएँ बड़ी महान्, बड़ी उच्च और बड़ी भव्य है। इनके साहित्य में लोक-कल्याण की भावना सर्वत्र प्रमुख और सजीव है। समाज की सेवा इन्होंने निष्पक्ष और निःस्वार्थ भावना से की। 'कबिरा खड़ा बजार में चाहत सबकी खैर, ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर' इस भावना का एक सुन्दर उदाहरण है। सन्तो के साहित्य और आविर्भाव-काल को काल-क्रमानुसार तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है—

संत-मत तथा सन्त-कवि

१. पूर्वकालीन-संत, २. मध्ययुगीन-संत, ३. आधुनिक-युगीन-संत। इन सभी समयो और सभी कवियो मे कबीर का व्यक्तित्व बड़ा ही महान् है। मौलिकता और अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से कबीर हिन्दी-साहित्य के अद्वितीय महा-कवि है। नानक, दादू, मलूक, सुन्दरदास, दरिया द्वै, बुल्लासाहब, यारीसाहब, चरनदास, सहजो, दयाबाई, मीरा आदि कवि और कवयित्रियाँ इसी महान् व्यक्तित्व की परम्परा मे अवतीर्ण हुए और अपने युग की जनता को कल्याणकारी ज्योति का दर्शन कराया। इन्होंने 'करनी' एव 'कथनी' के ऐक्य के द्वारा एक नवीन जीवन-दर्शन की स्थापना की जो सर्वथा स्पृहणीय रहा है और रहेगा।

'गीत-गोविन्द' के रचयिता जयदेव की प्रसिद्धि (सन् ११७९-१२०४)

अन्य जयदेवों की अपेक्षाकृत सर्वोपरि है। आपने बगाल के सेन-वशी राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि के रूप मे रहकर विशेष ख्याति

(१) संत जयदेव प्राप्त की। इसका प्रमाण 'श्री जयदेव सहचरेण महाराज लक्ष्मण सेन मन्त्रिवरेणोमापतिघरेण' है। चदवरदायी की पक्ति 'जयदेव अह कवी कविव्राय, जिनै केल कित्ती गोविन्द गाय' से उनका पूर्ववर्ती या समसामयिक होना ही प्रमाणित होता है। अतः आपका जीवनकाल वि० संवत् की १३वीं शताब्दी मे हम रख सकते हैं।

वंगाल के वीरभूम जिले में 'किंदुविल्व' का 'गीतगोविंद' मे उल्लेख है। कुछ लोग उडीसा प्रान्त के 'केन्दुली-सासन' गॉव वतलाते हैं क्योंकि यह प्रान्त बौद्धों के सहजयान तथा वज्रयान का केन्द्र भी रह चुका है और जयदेव को 'सहजयान' से प्रभावित भी कहते हैं। अतः दोनों प्रान्तों से आपका सम्बन्ध प्रकट होता है। कुछ लोग कवि जयदेव को राजा कार्मांणव (स० ११९९-१२१३ ई०) तथा अन्य उन्हे राजा पुरुषोत्तम देव (स० १२२७-१२३७) का समकालीन मानते हैं। इस प्रकार हम इस कवि का जीवनकाल विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में ठहरा सकते हैं।

जयदेव ने अपनी रचना के अन्त में पिता का नाम भोजदेव और माता का नाम राधादेवी दिया है। 'भक्तमाल' में वर्णित अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओ के आधार पर कहा जाता है कि जगन्नाथजी की प्रेरणा से एक ब्राह्मण अपनी कन्या को इनकी पर्णकुटी मे छोड गया, जिससे विवाह कर अपना सुखपूर्ण जीवन व्यतीत किया। इसी समय 'गीत-गोविन्द' मे सगृहीत पदो की रचना की, जिसके फलस्वरूप आपकी प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर बढने लगी। इनकी स्त्री पद्मावती का इनके वियोग में मर जाना तथा पुनः इनके द्वारा जलाया जाना आदि अनेक घटनाएँ इनके जीवनवृत्त से सम्बन्धित कही जाती हैं, जिनसे इनका एक परम सहिष्णु होना सिद्ध होता है।

इनका एकमात्र काव्य-ग्रन्थ 'गीत-गोविन्द' अपने शब्द-सौन्दर्य, पद-लालित्य एव सगीत-माधुर्य के लिए सस्कृत-साहित्य मे अद्वितीय माना जाता है। डॉ० पिशल-जैसे विद्वानो का मत है कि यह रचना सस्कृत की अपेक्षाकृत प्राकृत तथा लोकभाषाओं का अधिक अनुसरण करती है। अतः आपकी रचना मूलतः अन्य भाषा में होकर, बाद मे सस्कृत में अनुवादित की गई, परन्तु गीतों की आलकारिक भाषा, ग्रथ की वर्णन-शैली अथवा अन्त्यानुप्रासों के प्रयोग, संस्कृत-काव्य में भी प्राप्य थे। 'गीत-गोविन्द' में शृगार के साथ भक्ति का पुट पाया जाता है। परन्तु शृगार-रस के बाहुल्य तथा कला-प्रदर्शन की विशेषता के कारण

भक्ति-भावना अस्पष्ट रह गई है। यद्यपि कबीर ने 'भगति के प्रेमि इनही है जाना' कहा है, परन्तु ऐसी काव्य-शक्ति के अतिरिक्त अन्य बातें भी अपेक्षित है।

'आदिग्रन्थ' मे सग्रहीत जयदेव के दो पदो मे क्रमशः उपदेश तथा योग-साधना का उल्लेख हुआ है। प्रथम मे राम-नाम, सदाचरण के साथ-साथ मनसा, वाचा एव कर्मणा से की जानेवाली 'हरि भगत निज निहकेवला' अर्थात् अनन्य भक्ति का महत्त्व दरशाते हुए योग, यज्ञ एव दानादि से भक्ति को श्रेष्ठ बतलाया गया है। इनकी भाषा 'पडिताऊ' कही जा सकती है। नाथपथ तथा सिद्धों के बौद्ध-मत से प्रभावित शब्दावली की शैली सतो के 'सबदो' की भाँति है।

महत्त्व

प्रचलित है कि जयदेव निम्बार्क-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। कुछ व्यक्तियो का कथन है कि ये विष्णु-स्वामी के सम्प्रदाय मे दीक्षित थे। सूक्ष्मतः विचार करने पर जयदेव-जैसे कुछ वैष्णवो की रचनाओ मे सहज-यानियो के 'प्रज्ञा' एव 'उपाय' नामक तत्त्व ही राधा एव कृष्ण के रुप धारण कर अद्वय की दशा मे अपने ढग से मिल जाते है और उनकी 'महासुख' वाली अन्तिम स्थिति यहाँपर 'अलौकिक प्रेम' मे रूपान्तरित हो जाती है। इसीका परिणाम आगे 'वारकरी सम्प्रदाय' के अभगों मे स्पष्टतः लक्षित हुआ। आपने एक महत्त्वपूर्ण सधि-काल मे उत्पन्न होकर ऐसे मार्ग का प्रदर्शन किया, जो सन्त मत के लिए आदर्श बना।

सन्त सदना

सदना के जन्म-स्थान का ठीक-ठीक निश्चय नही हो पाया, पर इनका जीवनकाल १४वीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। यह जाति के कसाई माने जाते है, पर इनको स्वतः जीव-हिंसा से घृणा थी। अपनी जीविका चलाने के लिए ये अन्य कसाइयो से मास लेकर बेचा करते थे। इस प्रकार इन्होने अन्य सन्तो की भाँति अपने पैतृक व्यवसाय का परित्याग नही किया। इनके विषय मे लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि अज्ञानवश इनके तोल-बटखरो मे एक बार शालिग्राम की एक मूर्ति सम्मिलित हो गई थी, जिसे एक साधु ने देख लिया और इन्हें फटकारा, साथ ही उसे छीनकर अपने पूजन-गृह मे ले गया। रात मे ब्राह्मण को स्वप्न हुआ कि शालिग्राम को इसके पूजन-गृह की अपेक्षा इनकी दूकान मे ही रहना अधिक पसन्द है। अतएव उसे विवश होकर उक्त शिला इन्हें लौटा देनी पडी। इसी प्रकार इनसे सम्बन्धित जगन्नाथपुरी की यात्रा-सम्बन्धी अनेक घटनाएँ तथा चमत्कारपूर्ण कथाएँ प्रचलित हैं।

सिखो के गुरु अर्जुनदेव द्वारा सम्पादित 'आदिग्रन्थ' मे आपका एक पद आया है जिसमे इनके आर्तभाव, आत्मनिवेदन का प्रदर्शन तथा दैन्य-भाव एव

एकान्तनिष्ठा भी है। छः पदों का संग्रह 'सन्त-गाथा' में मिलता है, जिसमें 'कृष्णावतार' की भक्ति लक्षित हुई है। इनकी भाषा में फारसी-अरबी के शब्द होने से ये पश्चिमी प्रान्त के कहे जाते हैं। पर इन पदों में वह भाव-गाम्भीर्य और सन्तमत में निर्दिष्ट विचार नहीं हैं, अतः सम्भव है ये किसी अन्य सदना द्वारा रचित हों। सदना पन्थ की डॉ० ग्रियर्सन ने चर्चा की है और उनके अनुयायियों का बनारस में होना बतलाया है। इनका समय ईसा की १७वीं शताब्दी में कहा गया है, पर यह अनुमान असंगत है।

सन्त लालदेद कश्मीर-निवासिनी, मेहतर जाति की होने पर भी उच्च विचारवाली, शैव सम्प्रदाय का अनुसरण करने वाली पर धार्मिक मतभेदों से दूर रहनेवाली स्त्री थी। इसके सिद्धान्त सरल एवं समन्वयात्मक थे। इसका समय ईसा की चौदहवीं शताब्दी अथवा प्रायः वही था, जो सन्त सदना एवं नामदेवका था और इसके अनुयायी पश्चिमोत्तर भारत में यत्र-तत्र पाए जाते हैं। आपके पदों का संग्रह 'लल्लावाक्यानि' नाम से प्रकाशित है। आपकी रचनाओं के विषय शैवों की योग साधनासे सम्बन्धित है। आप 'लल्ला योगिनी' नाम से भी प्रसिद्ध थीं। डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार कबीरदास आपसे प्रभावित थे।

सन्त लालदेद

वेणी का समय सन्दिग्ध है। सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव के एक पद द्वारा स्पष्ट होता है कि इन्हें सद्गुरु द्वारा ज्ञान का प्रकाश उपलब्ध हुआ था। आदिग्रन्थ में आपके पदों का संग्रह प्राप्त होता है, जिसकी भाषा द्वारा आप कबीर से भी प्राचीन जान पड़ते हैं। पदों के प्रचार से आपको पश्चिमी प्रान्त का निवासी कहा जाता है। इनके पदों पर नाथयोगी-सम्प्रदाय एवं सन्तमत की गहरी छाप है। इनके नाम पर चलाये गए किसी पन्थ का अभी तक पता नहीं चला तथा 'शून्यमहलिया' आदि का विस्तृत वर्णन भी इनके पदों में प्राप्त होता है। विशेष रचनाएँ न प्राप्त होने पर भी सन्त मत के प्रथम प्रवर्तकों में समादृत हो सकते हैं।

सन्त वेणी

आदिग्रन्थ में संगृहीत तीन पदों में योग-साधना की चर्चा है, 'जीवन्मुक्त' का आदर्श है तथा मुख्य उद्देश्य 'आतम तनु' की अनुभूति है। इसी प्रकार अगम्य दूसम द्वार तथा 'शून्य महलिया' आदि का विस्तृत वर्णन भी इनके पदों में प्राप्त होता है।

दक्षिण-भारत में उक्त नामधारी अनेक सन्त हुए हैं। अतएव उक्त प्रमुख सन्त नामदेव के विषय में निश्चित रूप से जीवनी एवं रचना-सम्बन्धी तथ्यों को

संगृहीत कर प्रामाणिक परिचय देना सन्देहास्पद ही है।

सन्त नामदेव

उनकी कुछ रचनाएँ मराठी अभंगो के बडे-बडे ग्रन्थो में मिलती है और 'आदिग्रन्थ' मे संगृहीत कुछ पदो को भी उनकी कृति बताया जाता है, किन्तु 'आदिग्रन्थ' मे संगृहीत पद वाले नामदेव का प्रामाणिक परिचय सन्दिग्ध है। दक्षिण भारत के ज्ञानदेव के समकालीन नामदेव एक महान् सन्त हो गए है, परन्तु आपके आविर्भाव-काल के विषय मे सन्देह है।

'आदिग्रन्थ' मे संगृहीत नामदेव की रचनाओं तथा महाराष्ट्र सन्त रचित अभंगो की तुलना दोनो के एक ही होने का प्रमाण देती है। दोनो ने 'विट्ठल' को इष्टदेव मानकर 'भक्ति-प्रदर्शन' किया है। दोनों मे व्यक्तिगत प्रसंग, पदो के भावो पर नाथपन्थानुमोदित योगधारा की छाप समान रूप से है।

'सन्त-पंचायतन' के प्रसिद्ध महापुरुष नामदेव इसी समुदाय के सन्त 'तुकाराम' के आध्यात्मिक आदर्श भी थे। आपसे कबीरादि उत्तर-भारत के सन्त अत्यधिक प्रभावित हुए। अत. आप उत्तर-भारत तथा महाराष्ट्र के सन्तो के पथ-प्रदर्शक कहे जाते है। आपकी माता का नाम गोनाबाई तथा पिता का दामा शेट तथा जन्म का समय कार्तिक सुदी ११ सं० १३२६ कहा जाता है। इनकी धर्मपत्नी का नाम राजबाई और चार सन्तानो का नारायण, महादेव, गोविन्द, विट्ठल तथा कन्या का लिंबाबाई कहा जाता है। युवावस्था में आपका डाकू होना भी कहा जाता है, पर एक नारी पर करुणा कर वे यह कार्य छोड पण्ढरपुर चले गए। आपके गुरु विसोवा खेचर नामक संत थे। कुछ सन्त ज्ञानेश्वर को भी आपका गुरु बताते है। पर पूर्व मत के प्रमाण विशेष है। आपने ज्ञानदेव के साथ तीर्थ-यात्राएँ की, जिनका उल्लेख 'तीर्थावली' नाम से प्रसिद्ध है। तीर्थ-यात्रा के पश्चात् ही ज्ञानदेव का देहावसान हो जाने से दक्षिण से उदासीन हो पंजाबप्रान्त की ओर भ्रमण करते रहे तथा 'घोमन' गाँव में बस गए, यहीं अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं तथा यहीं आपकी मृत्यु हो गई। आचार्य सेन के मतानुसार वहीं उनके तथा उनके शिष्यो का मठ स्थापित हो गया तथा 'बाबा नामदेव का सम्प्रदाय' नाम से प्रसिद्ध हुआ। विलियम क्रुक ने इसकी एक शाखा को 'नामदेव-पंथी' बतलाया है, तथा यह भी कहा गया है कि ये एकेश्वरवादी, कर्मकाण्ड-विरोधी तथा अपने को नामदेव-वंशी भी कहते हैं। आपके अनुयायी सिख कहे जा सकते है। कारण, आपकी अनेक रचनाएं 'आदिग्रंथ' में संगृहीत हैं और आपका मत सिख धर्म के

सिद्धान्तों से मिलता है। आपके हिन्दू अनुयायी विशेषकर जालन्धर, गुरुदासपुर और हिसार में आज भी पाए जाते हैं।

सदा संकीर्तन में निमग्न रहने के कारण इनका कुटुम्ब दरिद्रता से अभिग्रस्त रहा। अतः भगवद्भजन के साथ-साथ काम-काज करना भी आपने अपना सिद्धान्त माना। सन्त नामदेव के विषय में प्राप्त अन्तर्साक्ष्यों के आधार पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनको अपने गृहस्थ-जीवन के प्रति कदाचित पूर्ण विरक्ति कभी भी नहीं रही।

सन्त नामदेव अपने जीवन के अन्तिम काल तक अत्यधिक ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उनकी रचनाओं का अधिक प्रचार हो जाने के कारण, उनमें अनेक परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक था। यद्यपि नामदेव की समस्त रचनाओं की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है, किन्तु उनके 'आदि-ग्रन्थ' में संग्रहीत पदों तथा मराठी संग्रहों में पाए जानेवाली कतिपय रचनाओं पर ही सन्तोष करना पड़ेगा। 'आदिग्रन्थ' के अन्तर्गत आये हुए उनके पदों की कुल संख्या ६२ है और मराठी-संग्रह में संग्रहीत हिन्दी-पद प्रायः १०२ तक पाए जाते हैं। आपके विचार महाराष्ट्र के 'वारकरी-सम्प्रदाय' से प्रभावित थे। इस सम्प्रदाय के सन्तों में निर्गुण सर्वात्मस्वरूप, अद्वैत-ब्रह्म के प्रति पूर्ण-निष्ठा तथा सगुण-मूर्ति के समक्ष कीर्तनादि भी प्राप्त होता है। इसमें ऊँच-नीच की भेद-भावना न थी।

सन्त नामदेव ने अपने 'गोविन्द' को व्यापक, पूरक, मणियों के भीतर ओतप्रोत धागे की भाँति सर्वान्तर्यामी माना है, तथा सर्वत्र 'बीठल' का ही दर्शन कर पूर्ण आनन्द की प्राप्ति की है। आपके भावुकतापूर्ण पदों में 'राम' के प्रति अनन्य भक्ति का प्रदर्शन है, तथा उस एक राम-भक्ति को अपनाकर अन्य की उपासना भी व्यर्थ कही है। उनके अनुसार 'उस सनेही राम' के मिलते ही पारस के स्पर्श के समान सब-कुछ कंचन हो जाता है। अहंभाव का भ्रम जब दूर हो जाता है, फिर तो 'ठाकुर' एवं 'जन' एक ही हो जाते हैं। इस प्रकार आप सर्वात्मवाद और अद्वैतवाद दोनों विचार के हैं तथा भक्ति का स्वरूप शुद्ध निर्गुण भक्ति है जिसमें 'नाम-साधना' का विशेष महत्त्व है। उन्होंने उस साधना की सम्भावना को गुरु-कृपा पर अवलम्बित माना है। उससे मानसिक दृढ़ता तथा फिर 'मुरारि' की प्राप्ति, और इस प्रकार संसार-सागर से पार जाना सरल हो जाता है।

नामदेव की मृत्यु संवत् १४०७ में पंढरपुर में कही जाती है। आपका समस्त जीवन भक्ति-रसाप्लावित था तथा पूर्णतः उत्तरीभारत के सन्तों के अग्रणी होने योग्य थे।

आप सन्त नामदेव के समकालीन थे। प्रियादास के अनुसार ये वैश्य वंशोत्पन्न तथा साधु-भक्त थे। आपका नाम भूत, भविष्य एवं वर्तमान के ज्ञाता होने के अनुरूप ही था। 'आदिग्रन्थ' मे सगृहीत चार पद तथा प्रश्नोत्तर है। सन्त-मत के अनुसार आदर्श-जीवन का सारा रूप इनके नामदेव से किये प्रश्नोत्तरो मे निहित है। इनके पदो मे एकाध मे मराठी भाषा के भी कुछ चिह्न लक्षित होते है। इनकी भाषा मूलतः हिन्दी ही है। आपने मराठी मे भी पद-रचना की। उनकी रचनाएँ मध्यम श्रेणी की है। उपलब्ध चार पदो मे से प्रथम मे माया-मोह का प्रभाव दिखाकर उसकी व्यर्थता, दूसरे मे झूठे सन्यासियो की आलोचना तथा उनको चेतावनी, अन्तकाल के स्मरण तथा अन्तिम मे कर्म की अमिट रेखा का प्रभाव दरशाया है, तथा सर्वत्र भगवन्नामस्मरण का ही महत्त्व कहा है। कहा जाता है कि अन्तिम पद की रचना इन्होने उस समय की थी, जब ये भक्ति-मार्ग मे अधिक अग्रसर होकर सासारिकता के प्रति विरक्त हो गए थे और अनेक आर्थिक सकटो के बीच होकर गुजर रहे थे।

सन्त त्रिलोचन

विक्रम की नवीं शताब्दी के लगभग आरम्भ होने वाला समय वस्तुस्थिति के पर्यवेक्षण एव मूल्याकन का युग था। पूर्वोल्लिखित सन्तों की आलोचना और मत एक ही प्रकार से उग्र न था और न उन सबने एक ही प्रकार से अपने मूल मतो को सुधारना ही चाहा था। स्वामी शकराचार्य ने अपने समय के अवैदिक मतो को अमान्य ठहराया तथा परवर्ती भक्ति-प्रचारक आचार्यों ने भी प्रायः इसी पद्धति का अनु-सरण किया। वेदादि धर्मग्रन्थो के प्रति इन सबकी आस्था निरन्तर बनी रही और ये सदा उनकी प्रभावशयता का दम्भ भरते रहे। बौद्धों एव जैनो के सुधारक सम्प्रदायो, नाथ-योगी-सम्प्रदाय तथा वैष्णव-सहजिया लोगों को भी वेदादि प्रामाण्य ग्रन्थों की आवश्यकता न रही। 'वारकरी-सम्प्रदाय' ने मध्यम मार्ग का अवलम्ब ग्रहण किया। इस प्रकार सुधारक सम्प्रदायो के दो भिन्न-भिन्न दल हो गए। प्रथम पूर्वनिर्दिष्ट आदर्शानुसार व्यवस्था कर परिवर्तनकर्ता द्वितीय स्वतन्त्र ढग से सर्वमान्य रूप देने का प्रयत्न करनेवाले थे। द्वितीय दल ने मानव-शरीर को ही सत्य का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर समझा। इस भावना ने प्राचीन धर्म ग्रन्थो एवं चिरकालीन रूढियों पर निर्भर रहने से रोका तथा हृदय की शुद्धता एव सत्य पर अटल विश्वास रखने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार आत्मविश्वास, आत्म-गौरव तथा स्वावलम्बन की प्रवृत्ति को दृढता मिली तथा परमुखोपेक्षिता के स्वभाव का परिवर्तन भी हुआ।

कबीरदास

परमतत्व के स्वरूप के सम्बन्ध में स्वामी शंकराचार्य ने आत्मज्ञान की साधना को सर्वश्रेष्ठ ठहराया, भक्ति-प्रचारक परकालीन आचार्यों ने अलौकिक भगवान् की कल्पना की तथा सहजयानी बौद्धों ने सत्य, शून्य की अद्वयता स्पष्ट करते हुए महासुखमय 'सहज' का आरोप किया। वैष्णव सहजिया ने 'सहज' को प्रेमपात्र मान उपलब्ध करना अपना ध्येय समझा। यह प्रेम-भावना सूफी के 'इश्क हकीकी' से भी प्रभावित रही और इन्हीं का संश्लिष्ट रूप कबीर का विरह-गर्भित प्रेम बना।

स्वामी शंकराचार्य एवं भक्ति-प्रचारक आचार्यों ने संस्कृत भाषा व्यवहृत की। किन्तु सहजयानी बौद्ध, जैन, मुनि, नाथ, योगी व सहजिया वैष्णवों की प्रवृत्ति इसके विरुद्ध दिशा की ओर काम करती हुई दीख पड़ी। उन्होंने अपनी स्वतन्त्र रचनाओं में तत्कालीन प्रचलित जन-भाषाओं को ही अपनी अभिव्यक्ति एवं भाव-प्रकाशन का माध्यम बनाया। प्रथम में प्रामाणिक एवं मान्य ग्रन्थों के उद्धरण तथा द्वितीय में निजी अनुभव तथा साधारण संकेतों पर आधारित दृष्टान्तों एवं रूपकों का उपयोग हुआ।

भारतवर्ष में ९वीं से १५वीं शताब्दी का युग संक्रान्ति-काल था। देश पर गजनी, गोरी आदि के आक्रमण, गुलाम, खिलजी तथा तुगलक आदि वंशों के सुल्तानों का शासन रहा। इसी समय बौद्ध-धर्म का ह्रास हुआ, सूफी सम्प्रदाय का प्रचार हुआ। प्रायः इसी समय शंकराचार्य एवं कुमारिल भट्ट-जैसे विरोधी प्रचारकों के प्रयत्नों द्वारा बौद्ध-धर्म प्रायः निर्बल-सा हो गया और जैन-धर्म तथा शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों के भीतर भिन्न-भिन्न संगठन हो रहे थे। सुल्तानों के स्वेच्छाचारी शासन में संघर्ष युग में उचित मार्ग दिखलाने का कार्य परस्पर-विरोधिनी प्रवृत्तियों में समन्वय कर स्थायी एवं सार्वभौम आदर्श रख सकने वाला कर सकता था। नामदेवजी ने 'वारकरी-सम्प्रदाय' से सम्बन्धित होने पर भी, स्वतन्त्र मत तथा स्वानुभूति पर आधारित उपदेश दिये और लोकप्रिय बने। वे अपने पदों को प्रायः करताल के साथ गाया करते थे और उनकी तल्लीनता तथा भावुकता उपस्थित श्रोताओं को मुग्ध कर लेती थी, जिसके कारण नामदेव का प्रभाव समस्त उत्तर भारत, राजस्थान, पंजाब और बंगाल तक व्याप्त हो गया। कबीर भी आपके पदों से प्रभावित हुए।

बौद्धों एवं जैनियों का प्रचार अपेक्षाकृत कम तथा सूफी का अधिक हुआ तथा वैष्णव-सहजिया सम्प्रदाय के कवि चंडीदास अपने माधुर्यपूर्ण पदों द्वारा मन्त्रमुग्ध कर रहे थे। इसी परम्परा में कबीर ने साम्प्रदायिक भावना से मुक्त होकर सर्वमान्य बनने का प्रयास किया।

कबीर का परिचय देनेवाली उपलब्ध सामग्री द्वारा यह पता चलता है, कि प्राचीन रचनाओ मे आप एक 'भक्त-विशेष' के रूप मे ही व्यक्त हुए है। कुछ

कबीर साहब का जीवन-वृत्त

साहित्य मे आप 'सत्य कबीर' के रूप मे आते है तथा आपसे सम्बन्धित अनेकानेक चमत्कारपूर्ण घटनाओ का सग्रह उपलब्ध होता है। यदि एक ओर वह भक्त एव अवतारी सन्त कहे जाते है, तो दूसरी ओर धार्मिक नेता एव सुधारक। आपकी मृत्यु के सम्बन्ध मे भी अनेक मत है। कबीरपथियों के आधार पर आप अलौकिक पुरुष थे। कबीर की जाति जुलाहा होने की पुष्टि अनेक महापुरुषो तथा स्वयं इनकी उक्ति द्वारा होती है। आपकी रचनाओ मे यत्र-तत्र पाए जाने वाले मुसलमानी सस्कारो द्वारा प्रभावित कार्यों आदि के उल्लेख द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि आपकी विचारधारा पर मुसलमानी सस्कृति की छाप स्पष्ट थी। हिन्दुओं के उच्चतम आध्यात्मिक विचारो के प्रबल समर्थक होने से मूलतः इस्लाम-धर्मी होने मे सन्देह भी है। डॉ० बडथ्वाल के शब्दो मे, "मेरी समझ से कबीर भी किसी प्राचीन तथा कोरी किन्तु तत्कालीन जुलाहा कुल के थे, जो मुसलमान होने के पहले जोगियो का अनुयायी था।" यह सम्भव है कि जुगी कहलाने वाली जाति पहले नाथमत की अनुयायिनी रही होगी और किसी-न-किसी कारण मुसलमानी प्रभाव मे आकर धर्मान्तर ग्रहण किया होगा। अथ यावत् उपलब्ध सामग्रियो के आधार पर हम उन्हे केवल जुलाहा और सम्भवतः इस्लामी धर्मानुयायी जुलाहे कुल का ही बालक मान सकते हैं। कबीर साहब की रचनाओं मे प्राप्त भिन्न-भिन्न मतो एव सस्कारो का सामजस्य इनके धर्मान्तरित कुल मात्र के ही सहारे न करके इनकी परिस्थिति, पर्यटन, सत्सग, प्रतिभा तथा अन्य कारणों के बल पर भी न्यायसगत रूप से किया जा सकता है।

'ज्ञान-सागर' मे इनके पोषक पिता 'नीरू' को पूर्व-जन्म का ब्राह्मण बताया गया है। 'गुरुग्रन्थ साहिब' में 'हमारे कुल कउने राम कहिओ। जबकी माला लई नियूते तब ते सुख न भइयो' द्वारा आपकी माता का मुसलमानिन (नीमा) होना कहा जा सकता है। 'पिता हमारो बहु गोसाई। तिसु पिता पहिहउ किउ जाई' द्वारा इनके पिता जितेन्द्रिय का गोसाईं होना भी कहा जा सकता है, पर इसका अभिप्राय परमेश्वर से भी लिया जा सकता है।

शिक्षा-दीक्षा के विषय मे 'मसि कागद छूयो नही कलम गह्यो नहिं हाथ' ही प्रसिद्ध है। कबीर-पथियो की धारणा है 'पॉच बरस के जब भये कासी मॉझ कबीर। गरीब दास अजब कला, ज्ञान ध्यान गुण सीर।' सर्वसाधारण की धारणा 'रामानन्द' को इनका गुरु बताती है, क्योकि वे तत्कालीन महान् धार्मिक

नेता एवं सुधारक थे। अतः इनके सम्पर्क में आप अवश्य आए होंगे। मौ० गुलाम 'सरवर' ने शेख कबीर जोलाहा को शेख तकी का उत्तराधिकारी और चेला बताया है। परन्तु ये कबीर के समकालीन सिद्ध नहीं होते और न उनके पीर ही। उक्त नाम के दूसरे झूसीवाले शेख तकी नाम से प्रसिद्ध हैं। परन्तु कबीर उनके शिष्य थे, इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। 'गोमतीतीर बासी पीताम्बर पीर' की प्रशंसा कबीर ने अवश्य अपनी रचना में की है, परन्तु इससे उनका गुरु होना सिद्ध नहीं होता। आपकी रचनाओं में गुरु-महिमा आदि का विस्तृत उल्लेख पढ़कर यह प्रकट होता है कि आपने किसी एक व्यक्ति से दीक्षित न होकर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से सत्संग-लाभ किया और ज्ञानोपलब्धि की।

आपकी कृतियाँ अधिकतर मौखिक होने के कारण परिवर्तित होती रहीं। यह प्रसिद्ध है कि सं० १५२१ में आपके शिष्य धर्मदास ने 'बीजक' नामक आपकी रचनाओं का संग्रह किया। इस प्रामाणिक पाठ की भाषा का सम्यक् निरीक्षण करने पर उक्त संग्रह की प्राचीनता संदेह में पड़ जाती है। 'गुरु-ग्रन्थ-साहिब' में संगृहीत आपके लगभग सवा दो सौ पद एवं ढाई सौ 'सलोक' तथा साखियों को वास्तविक रचना कहा जा सकता है। आपकी रचनाओं का दूसरा संग्रह काशी ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रंथावली' है। इसमें भी अनेकों परिवर्द्धन व परिवर्तन हैं, फिर भी इसकी भाषा और बेसुधरे रूप से इसकी प्राचीनता एवं प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त इसी सभा की एक महत्त्वपूर्ण प्रति 'ब्याना प्रति' नाम से प्रसिद्ध है।

वैष्णवों के प्रति प्रदर्शित श्रद्धा, राम, हरी, नारायण, मुकुन्द आदि प्रयुक्त शब्द-बाहुल्य से इनका रामानन्द का शिष्य होने का अनुमान किया जाता है।

कबीर साहब का मत

परन्तु तीर्थ, व्रत, भेष, मूर्तिपूजा आदि के प्रति अनास्था लक्षित होने से विरोधी भाव भी दिखाई पड़ता है। निर्गुण ब्रह्म के महत्त्व का प्रतिपादन करने से ये निर्गुणोपासक अधिक कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ इन्हें वारकरी-सम्प्रदाय का, कुछ शुद्धविचारक एवं दार्शनिक मानते हैं। कबीर में शांकर अद्वैतवाद तत्त्व पाकर वेदान्ती, कुछ विद्वान् नाथपन्थी और कुछ केवल सच्चे सुधारक-मात्र कहते हैं। इसके विपरीत 'जोति से सृष्टि की उत्पत्ति बताना, 'गोर' अवर, चौदह चन्दा आदि इस्लामी भाव-प्रदर्शक बातों के उल्लेख आदि करने से आपको सूफीसम्प्रदाय के शेख तकी का शिष्य बताते हैं। अस्तु, बहुत से विद्वानों का यह कथन है कि आपने हिन्दू-धर्म से अद्वैत सिद्धान्त, वैष्णव-सम्प्रदाय की भक्तिमयी उपासना, कर्मवाद, जन्मान्तरवाद, बौद्ध-धर्म से शून्यवाद, अहिंसा, मध्यम-

मार्ग, इस्लाम-धर्म से एकेश्वरवाद, भ्रातृभाव और सूफी सम्प्रदाय से प्रेम-भावना को लेकर सारग्राही सम्मिश्रण कर नया सर्वग्राह्य पन्थ चलाने का प्रयास किया।

कबीर के समय मे धर्म के क्षेत्र मे केवल हिन्दू-मुसलमान ही नहीं बल्कि यती, जोगी, संन्यासी, शाक्त, जैन, शेख एव काजी सर्वत्र अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग अलाप रहे थे। सामाजिक क्षेत्र मे भी अछूत समस्या बृहद् रूप धारण कर रही थी। धर्म-ग्रन्थो के आधार पर सामाजिक विशृंखलता के साथ-साथ अगणित बाह्याचारो एव विधानो का प्रपच बढकर वास्तविक तत्त्व को प्रकट होने ही न देता था। कबीर ने सभी समस्याओ के मूल हितैषी उपाय 'सत्यान्वेषण' मे लगकर शान्ति प्राप्त की। कबीर की सत्यान्वेषण-पद्धति निगमन विधि-परक न होकर पूर्णतः व्याप्तिविधि-परक है। आपका विचार धर्म-ग्रन्थो के जाल का आश्रय न लेकर, स्वतन्त्र रूप से निजी अनुभव का रहा। कारण यह है कि इस दशा मे जिज्ञासु के लिए स्वतः शक्ति, विचार, मनन एव अनुभव प्राप्त हो सकेगा। उन्होने वेद, पुराण और स्मृतियो मे कही गई बातो को झूठ सिद्ध कर उन्हे माया-जन्य कहा तथा 'षट्दर्शन' और 'छानवे पाखडो' के आधार पर तर्क-वितर्क करने वालो की अन्धगति का तीव्र विरोध किया। तत्विपरीत अन्धानुसरण, अनुभवाश्रित न होने से बाह्यरूपेण ही प्रभावित करने की क्षमता रखता है, अतः आपकी विचार-पद्धति की भित्ति स्वानुभूति पर आधारित होकर उसका गुणगान कराती है, तथा परावलम्बन द्वारा प्राप्त ज्ञान की निन्दा। 'करत विचार मनही मन उपजी ना कही गया न आया' के अनुसार कबीर ने 'भीतर के तत्त्व' को पहचानकर बाह्याचारो से विरक्ति ग्रहण की। उनकी ज्वालामयी वेदना परमतत्त्व की सहजानुभूति रूपी जल से बुझकर शीतल हो गई—

तन भीतरि मन मानियाँ, बाहरि कहा न जाई।
ज्वाला तें फिरि जल भया, बुझी बलन्ती लाई॥[1]

वास्तव मे इस अनुभव की कथा अकथनीय है। जिसके हृदय मे यह सहज भाव से उत्पन्न हो गया, वह उसी मे लीन हो गया।

कहै कबीर यहु अकथ कथा है, कहता कही न जाई।
सहज भाइ जिहि ऊपजै, ते रमि रहे समाई॥[2]

कबीर के परमतत्त्व का रूप भी उतना ही व्यक्तिगत है, जितना कि अनुभव-गम्य हो सके। वे स्वयं भी पूर्णसत्य को पूर्णरूप मे जान लेने का प्रमाण

---

१ कबीर ग्रन्थावली सा० ३१ पृ० १५।
२ वही पद १४, पृ० ९२।

नहीं देते। यद्यपि सत्य के वास्तविक स्वरूप के विषय में किये गए वर्णन अन्ततः अपूर्ण है, पर उनके आधारभूत निजी अनुभव का धार्मिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। वे उस तत्त्व के विषय में कहते हैं 'वह अननुभूत, अविगत, अगम एवं अकल्प तो है ही, जहाँ तक अपने अनुभव के भीतर आ सका, वहाँ तक भी उसे 'अनुपम, निराला, अकथ एवं अगोचर ही कहना पड़ा।' वे अनुभवजन्य, आत्मसात् दशा को अवर्णनीय पाते हैं। तदनुसार उसे कभी निर्गुण, अलख, निरंजन नाम देते हैं तथा कभी 'आतम', 'आप', 'आपन' शब्द द्वारा अभिहित करते हैं। कबीर ने उसे तत्कालीन व्यवहृत सभी भिन्न समाजों में प्रचलित नामों से पुकारा है। सृष्टि एवं जगत कर्ता की दृष्टि सम्बन्धी बातों के प्रसंग में उसे क्रियाशील पुरुष भी कहा है। सृष्टि से वह किसी भिन्न व्यक्ति विशेष-सा प्रतीत होता है, पर वस्तुतः वह एवं सृष्टि एक ही है, क्योंकि 'सृष्टिकर्ता में ही सृष्टि है और सृष्टि में सृष्टिकर्ता ओत-प्रोत है।' आत्मतत्त्व मनुष्य-सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट रूप है, अतः यह भी सृष्टिकर्ता का अंग है। वह मूलतः वही है, जो पूर्ण सत्य है। अतएव उसमें दीख पड़ने वाली विभिन्नताएँ मिथ्या हैं और उसके 'भरम-करम' तथा उस कर्म के कारणों ने संसार-मात्र को भ्रमित कर रखा है और अज्ञानी बना रखने का मूल कारण आपने मायातत्त्व को विश्वमोहिनी सुन्दरी ठगिनी के रूप में चित्रित किया है। माया के पाँच पुत्र काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर को उक्त 'भरम-करम' बढ़ाने में सहायक बताया है। वह जल, स्थल एवं अकाश, सर्वत्र व्याप्त है, उसका प्रभाव सम्पूर्ण सृष्टि में दृष्टिगोचर होता है। वह कभी माता-पिता, कभी स्त्री-पुत्र, कभी आदर-मान, कभी जप-तप, और मोक्ष के रूपों में ही बन्धन डाल देती है। छः यती, नव-नाथ तथा चौरासी सिद्ध तक माया के प्रपंचों से नहीं बच पाए और सम्पूर्ण देव-गण, सूर्य, चन्द्र, सागर, पृथ्वी आदि सभी उसके प्रभावों से प्रभावित हुए। कबीर ने उसके लिए सर्पिणी, पापिणी, तथा डाकिणी की कल्पना की है, जिसका कार्य जीव को ब्रह्म से न मिलाकर, दुष्प्रवृत्तियों में लगाना है।

कबीर के दार्शनिक मतानुसार सबसे अन्तिम तत्त्व एवं परमतत्त्व 'सति' (सत्य) है, जिसका वास्तविक स्वरूप अगम तथा अज्ञेय है। अपने को वह स्वयं आप ही जानता है, और अन्य उसे 'है' मात्र से अधिक नहीं कह सकता। इस 'भरम करम' का मूल कारण भी उसी की नटसारी तथा लीला है, जिसके मनमोहक रूप ने हमारे भीतर आसक्ति का भाव उत्पन्न करके हमें जंजाल में फँसा रखा है यही सत, रज, तम रूपिणी त्रिगुणात्मिका प्रकृति है, यही माया भी है जो 'अहेड़े' एवं शिकार खेलने निकली हुई है।

इस प्रकार कबीर का 'सति' ही वेदान्त की परिभाषा के अनुसार ब्रह्म, 'करता' ही 'उपाधिगत ईश्वर', जीव ही 'आत्मा' और 'माया' 'अविद्या' है। 'जीव' और 'सुरति' का भी निज स्वरूप वही है जो अभिन्नत्व वेदान्त मे आत्मा तथा परमात्मा का है। परन्तु साथ ही वह 'सति' 'साहेब' के रूप मे 'व्यक्ति' सा भी है। उसका सहज-रूप तो निर्गुण तथा सगुण निर्गुणातीत निरजन का है।

कबीर के मत से वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर, उस दृष्टिकोण को चिरस्थायी रूप देने के लिए, माया बेलि को नष्ट कर निश्चित ध्येय को सम्मुख रखना ही कल्याण-पथ है। इस व्यवहार-धर्म के सचालन मे इन्द्रियाधीश मन की अनस्थिरता को दूर करने के लिए कबीर साहब ने 'सहज समाधि' का आदर्श प्रस्तुत किया है। इसे प्राप्त कर लेने पर सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं और उसकी प्राप्ति के लिए 'सुरति'-जैसी कुछ साधनाएँ अपेक्षित है, जिसमे हमारे मूल सत्य का प्रतिबिम्ब झलकता है। उसे 'अनहद सबद' के साथ जोड़ देने से असीम सुख की प्राप्ति होती है। इस प्राणायाम द्वारा कुण्डली-भेद का उल्लेख करते हुए, आपने कहा है, इस प्रकार से अपनी सुरति मे शून्य के प्रति अनुराग उत्पन्न कर अमरत्व प्राप्ति होती है। साथ ही मन को अनुसरण न कर उसे लक्ष्य की ओर मोडने का प्रयत्न करने का ही आदेश दिया है। कुडलिनी, योग एवं लय-योग की चर्चा योग-साधना-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थो मे मिलती है। योगमतानुसार हमारे मेरुदड मे नीचे से ऊपर तक क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध एव आज्ञा नामक छः चक्र पाए जाते हैं और सबसे ऊपर सातवाँ चक्र विद्यमान है जो सहस्रार कहलाता है। कुण्डलिनी, मूलाधार चक्र मे प्रबुद्ध होकर मेरुदण्ड के भीतर उक्त छः चक्रो को क्रमशः भेदती हुई सहस्रार मे लीन हो जाती है और हमारी समस्त बिखरी हुई वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं, मन एकाग्र तथा स्थित-चित्त हो जाता है। इस प्रकार अभ्यास से स्थिर मन होते ही निर्मल एव निराकार होकर वह सहायक बन जाता है। उक्त साधना के अनन्तर प्राप्त परिणाम को 'ब्रह्मज्ञान' की सज्ञा देकर उस स्थिति मे स्थिर रहने को 'सहज समाधि' कहा है। इस प्रकार यह स्थिति अल्प-कालीन या चिरकालीन मानसिक स्थिति नही, वरन् यह अपने स्वभाव का ही सर्वदा के लिए कायापलट है। यही 'सोधी' (शुद्धि) नाम से स्थिति कही गई है, जिसे सद्गुरु द्वारा सभी दातव्य मे श्रेष्ठ बताया है।

उक्त समाधि का रूप केवल ज्ञानात्मक ही नही वरन् भक्तिमय भी है, जिसमें प्राण नामस्मरण को सर्वोपरि साधन मानते है। उनके अनुसार पूर्वोक्त 'अनाहत वानी' को ही वह भाव-रूपिणी वस्तु बताया है, जिसे हम ज्ञान रूपी

दीपक के प्रकाश हो जाने पर उपलब्ध करते हैं। वही अन्य शब्दों में 'हरिनाम' एव 'रामनाम' है। इसी को 'हरि सूँ गठजोरा' तथा 'प्रेमभगति' भी कहा है। जिस अमृत स्राविनी भगति का रहस्य बाह्यतः नहीं स्थिति-विशेष में निरत रहने में ही माना है, जिसका प्रचलित नवधा पद्धतियों के रूपों से कोई सम्बन्ध नहीं, समस्त व्यापार अतर्गत ही स्वभावतः होते हैं। सच्ची भक्ति की व्याख्या करते हुए कबीर ने कहा है कि जिस प्रकार मृग वीणा के स्वर को सुनते ही विध जाता है और शरीर-त्याग करने पर भी उसका ध्यान नहीं टूटता तथा मछली जल के साथ ऐसा प्रेम करती है कि प्राण छोड़ने पर भी उसी मे लीन रहना चाहती है, जिस प्रकार कीट भृगी में इतना लीन हो जाता है कि वह भी भृगी बन जाता है, उसी प्रकार इस 'अमृत सार' नाम का स्मरण करके भक्त लोग भव-सागर पार किया करते हैं।' सहज-समाधि की स्थिति मे भाव-भगति से ओतप्रोत स्वभाव को आपने 'सहजसील' की सज्ञा दी है। यही वह सहज की अवस्था है, जब "अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने कहने मे पूर्णतः आ जाती हैं, और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हमे परमात्मा का स्पर्श अथवा प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है।"[१] हमारे अन्तःकरण मे अव्यक्त, व्यक्त हो जाता है, प्रेम-ध्यान की तारी लग जाती है और अन्तःपट के खुलते ही सारी वेदनाएँ सुखमयी बन जाती हैं। ऐसे महापुरुष मे विशिष्ट गुणों का समावेश हुआ करता है। सर्वोत्तम विशेषता यह है कि समस्त गुण स्वभावतः उत्पन्न होकर, उसे पार्थिव न बनाकर आध्यात्मिक बना देते हैं। उसका अन्तःकरण निर्मल बन जाता है और अलौकिक आनन्द की उपलब्धि हो जाती है। यह व्यक्ति के विकास की पूर्णावस्था है, जिसमे भेद-भावना से परे होकर उसे 'भगत', 'हरिजन', 'साधु' तथा 'प्रत्यक्ष देव' कहा जाता है।

व्यष्टि के पूर्णतः सुधरते ही समष्टि का सुधार अनिवार्य है। अत आपने सामाजिक व्यवस्था का आदर्श सामने न रखकर व्यष्टि में ही नैतिक गुणो के समावेश का उल्लेख किया है। आपका संत शाश्वत सत्य को अपने नैतिक जीवन मे उतारते रहने की चेष्टा करेगा, जिससे भूतल पर ही स्वर्ग का निर्माण सम्भव हो सकता है। यह पूरे साम्यवादी हैं, पर इनके यहाँ सामाजिक प्रश्न आर्थिक एव राजनीतिक प्रेरणाओ से नहीं बल्कि 'समाज धर्म' के आदर्शानुसार उठा करते हैं। कबीर समाज, अर्थ, धर्म, सभी क्षेत्रों मे साम्य-भावना के पक्षपाती हैं। उनकी दृष्टि में ऊँच-नीच, धनी-निर्धन समान हैं।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद ३९३, पृ० २१८।

२. वही, साखी २, पृष्ठ ४२।

संक्षेपतः कबीर के अनुसार धर्म का स्वरूप सत्य के प्रति किसी व्यक्ति की पूर्ण आस्था, उसके साथ तादात्म्य की मनोवृत्ति तथा उसी के आदर्शों पर निश्चित व्यवहार की प्रवृत्ति में भी देखा जा सकता है। कबीर की क्रान्ति बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी थी। उन्हें परलोक-जैसे काल्पनिक प्रदेश के प्रति विश्वास न था। वे लोक को ही अपने आदर्शों एवं प्रभाव द्वारा स्वर्ग बना देने में विश्वास रखते थे। वे कपट, पाखंड, जाल एवं अत्याचार के घोर विरोधी थे और शुद्ध-हृदय, साहसी, स्पष्टोक्ति एवं प्रेम के प्रबल समर्थक भी थे। इनका 'हरिपद' परमपद स्थान-विशेष का बोधक न होकर 'स्थिति-विशेष' का था तथा 'सन्त' अथवा 'चौथा पद' की सार्थकता भी तभी सम्भव है, जब उसके द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति ब्रह्म एवं सत्य के अस्तित्व का पूर्णतः अनुभव कर चुकने वाला हो जाए. 'अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं विदुर्बुधाः'।

कबीर साहब के समसामयिक सन्त (सं० १५००-१५५०)

कबीर के आविर्भाव-काल में धार्मिक विचारधारा पर अनेक प्रभाव पड़ते जा रहे थे, जिनसे अनेक महापुरुष प्रभावित हुए। ऐसे ही महान् पुरुषों में सर्वप्रसिद्ध स्वामि रामानन्द थे। सन्तसेन नाई, पीपा, रैदास तथा धन्ना भी आपके शिष्य कहे जाते हैं। इन सबकी विचारधारा लगभग एक समान ही प्रवाहित हुई थी। ये सभी असाम्प्रदायिक एवं उदार-हृदय, स्वच्छन्द आध्यात्मिक व्यक्ति थे। कमाल भी इन्हीं में से एक थे। इन्होंने कोई नवीन पन्थ चलाने का प्रयास नहीं किया वरन् सार्वभौम धर्म के ही प्रचारक थे, फिर भी इनके नाम से पन्थों की सृष्टि हो गई। ये पूर्ण सन्यासी कभी नहीं हुए, प्रत्युत परिवार में रहकर सरल जीवन विताया।

कबीर साहब तथा उनके उक्त समसामयिक सन्तों का कोई ऐसा प्रामाणिक विवरण नहीं मिलता, जिसके अनुसार उपर्युक्त सन्तों का काल-क्रम निश्चित किया जा सके, फिर भी उनकी उपलब्ध रचनाओं तथा अनुश्रुतियों के आधार पर उनके आविर्भाव-काल के विषय में कुछ अनुमान किया जा सकता है।

उत्तर भारत की सन्त-परम्परा में आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपके चरित्र-बल एवं असाधारण व्यक्तित्व से समकालीन हिन्दू समाज का वातावरण प्रभावित हो उठा, और आप प्रभावशाली पथ-प्रदर्शक तथा

स्वामी रामानन्द

विशिष्ट सुधारक प्रमाणित हुए। लोक-संग्रह की दृष्टि से संयम-शील साधुओं की एक टोली संगठित कर, उन्हें 'वैरागी' नाम दे सर्वत्र भ्रमण की ओर प्रेरित किया। आपका जन्म 'अगस्त्य संहिता' के आधार

पर सं० १३५६ में माना जाता है। अध्ययनार्थ काशी में जाकर आप वहाँ विशिष्टाद्वैती, स्वामी राघवानन्द के शिष्य हो गए, तत्पश्चात् आपने भिन्न मत 'रामानन्दी सम्प्रदाय' से प्रचारित किया। आपके गुरु स्वामी राघवानन्द भक्ति-आन्दोलन के नेता थे। आप योगविद्या में पारंगत थे। सन्त नाभादास के समकालीन तथा वैष्णवदास के चेले मिहीलाल ने भी अपने 'गुरु-प्रकारी' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि—

श्री अवधूत वेष को धारे, राघवानन्द सोई।
तिनके रामानन्द जग जाने, कलि कल्यान गई॥'

डॉ० बडथ्वाल ने आपके साधना-मार्ग को योग और प्रेम का समन्वित रूप स्वीकार किया है।[1] आपकी पुस्तिका 'सिद्धान्त-पंचमात्रा' देखने पर यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन वातावरण नाथ-योगी सम्प्रदाय से प्रभावित था।

रामानन्द के शिष्य १२ कहे जाते हैं। प्रथम ५ सेन, कबीर, पीपा, रविदास एवं धन्ना तथा शेष ७ में अनन्तानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, योगानन्द, सुखानन्द, भवानन्द एवं गालवानन्द। इनमें से प्रथम ५ की सभी बातों पर विचार करते हुए, यही अनुमान लगाया जाता है कि किसी ने भी इन्हें स्पष्टतः अपना गुरु स्वीकार नहीं किया है। रामानन्द की कुछ रचनाएँ संस्कृत एवं कुछ हिन्दी में हैं। डॉ० फर्कुहर का कहना है कि आपके मत का मूल आधार वैष्णव सम्प्रदायों में निहित न होकर 'अध्यात्म रामायण' में है। रामानन्दी सम्प्रदाय आज भी विद्यमान है। आपके दार्शनिक-सिद्धान्तों के आधार विशिष्टाद्वैत की मूल बातों में ही निहित हैं। अतएव रामानुजीय 'श्री सम्प्रदाय' एवं रामानन्दीय 'रामावत-सम्प्रदाय' में कोई विशेष अन्तर नहीं मालूम पड़ता। परन्तु कई प्रकार के भेद भी हैं, यथा नारायण के स्थान पर 'राम' को उपास्य देव मानना, अर्चन-विधियों के बाहुल्य के स्थान पर भक्त-रसाप्लावित गुणगान पर विशेष ध्यान देना। अतः 'रामावत-सम्प्रदाय' का लगाव स्मार्त्त धर्म की ओर भी रहा करता है। इसका प्रचार सर्वत्र हुआ है। इसके नियम सरल एवं सुगम हैं, मूल मन्त्र 'राम' है तथा इष्टदेव राम हैं, जो निर्गुण होते हुए भी भक्त-हित नर देह धारण करते हैं।

आप के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं। प्रथम के अनुसार (समय सं० १५०५) बीदर के राजा के आप सेवक थे। प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन,

१. योग-प्रवाह—डॉ० बड़थ्वाल, पृष्ठ २, ३।
२. वही, पृष्ठ ८।

विट्ठलनाथ के स्तुतिकर्ता और वारकरी-भक्त प्रतीत होते है।

सेन नाई

दूसरे के अनुसार आप बान्धवगढ-नरेश के सेवक तथा रामानन्द के शिष्य कहे जाते है। तृतीय मत के आधार पर सेनजी बान्धवगढ के ही निवासी थे, तथा आप रामानन्द के समकालीन सिद्ध नहीं होते। आप पूर्व-काल मे वारकरी-सम्प्रदाय से प्रभावित रहे, तत्पश्चात् पर्यटन करते मगन रामानन्द के दर्शन एव नामदेव से प्रभावित हुए। आपके नाम पर सेन-पन्थ का प्रचलित होना भी प्रसिद्ध है।

फर्कुहर के अनुसार आपका जन्म सन् १४२५ मे हुआ। किन्तु कनिंघम ने गागरोन राज्य की वशावली के आधार पर इनका समय सन् १३६० ओर १३८५ अर्थात् सं० १४१७ तथा १४४२ के बीच ठहराने

पीपा

का प्रयत्न किया है। इनकी अपनी दो रचनाओं[1] से यह प्रतीत होता है कि ये कबीर साहब के बडे प्रशसक थे। आप कबीर को अपना गुरु मानते थे। पीपाजी साधुसेवी एव सच्चे भक्त थे। स्वामी रामानन्द से प्रभावित होकर आप विरक्त हो गए। आपकी द्वारका-यात्रा का स्मारक रूप 'पीपावट' का वृहत् मठ प्रसिद्ध है। आपकी रचनाओका सग्रह 'श्री पीपाजी की बानी' है, जिसमे 'सन्तमत' के सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं।

आप ढोरों का व्यवसाय करते हुए भी माया का परित्याग कर, साधु-संग कर भगवद्दर्शन मे सफल हुए। आप सरल जीवन-यापन करनेवाले, निस्पृह एव बाल्यावस्था से ही 'राम-जानकी' के उपासक थे। आपके

रैदास

अनुयायी महाराष्ट्र एव राजपूताना मे भी पाए जाते है। मीरा बाई ने अपनी रचनाओ मे आपको गुरु भी कहा है। प्रिया-दासजी ने आपकी शिष्या का नाम 'झालीरानी' भी बताया है, जिन्हे कुछ लोग महाराणा सागा की धर्मपत्नी भी कहते हैं। अतः आपका समय (स० १५३९-१५८४) कहा जा सकता है। आपकी रचनाओ का सग्रह 'रैदासजी की बानी' नाम से प्रकाशित हुआ है। उसमें फारसी-मिश्रित भाषा का प्रयोग किया गया है। आपके सिद्धान्त उच्च एव उदार थे। आपकी निष्ठा कोरे ज्ञान की अपेक्षा सत्यानुभूति मे विशेष थी। राम का परिचय प्राप्त करने के बाद ही 'दुविधा' नष्ट हो जाती है। तभी 'परम वैराग' की स्थिति प्राप्त होती है, यह आपका निश्चय था। उस सत्य का परिचय रैदास ने अनुपम एवं अनिर्वचनीय रूप में दिया है। साकेतिक रूप में आपने प्रेम भगति का वास्तविक मूलाधार अहकार

१. श्री पीपाजी की बानी में सगृहीत।

की निवृत्ति बताया है। कबीर ने आपको सन्तमत के अनुसार 'सत्यपथ-दिग्दर्शक' कहा है। आपके अष्टागसाधन (१) गृह (२) सेवा (३) सन्त (४) नाम (५) ध्यान (६) प्रणति (७) प्रेम (८) विलय (समाधि) कहे जाते हैं। आपकी शिष्य परम्परा में अन्य कोई श्रेष्ठ साधक अनुपलब्ध है। आपके नाम पर ही 'रैदासी' सम्प्रदाय प्रचलित हुआ।

सन्त कमाल

कबीर के औरस पुत्र एवं शिष्य थे। कमाल सन्त-मत के प्रचारार्थ दक्षिण की ओर गये थे। कमाल को मुसलमान बताया है और उनकी भाषा-शैली तथा 'मुरशिद', 'मौला' आदि जैसे शब्दों के अधिक प्रयोग से भी यही सिद्ध होता है। सम्भव है ये सूफियो के सम्पर्क में भी कुछ दिन तक रह चुके हों और इनके विचारों पर उनका भी प्रभाव पर्याप्त रूप में पडा हो। 'बूडा वस कबीर का जनमा पूत कमाल' इस कथन को लेकर अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। आपकी विचारधारा कबीर से साम्य रखती है।

धन्ना भगत

आपका जन्मकाल स० १४७२ माना जाता है। इन्होंने अपने को जाट जाति का तथा रैदास एव सेन से प्रभावित कहा है। आपका व्यवसाय भगवत् प्रताप के बल पर कृषि करना था। आपके चार पद 'आदिग्रथ' में संगृहीत हैं। आपके सिद्धान्तानुसार भगवत् कृपा से ज्ञान के प्रकाश से मन एकनिष्ठ हो, प्रेम-भगति का अधिकारी बन, मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। आपमें सरल-हृदय तथा सच्चा प्रभु-विश्वास दृष्टिगत होता है।

पन्थ-निर्माण का सूत्रपात (सं० १५५०-१६००)

किसी मत-विशेष के प्रवर्तक को अपने सिद्धान्त-प्रचार की बलवती इच्छा के कारण अनुयायियों को आवश्यक उपदेश देना पड़ता है और योग्य उत्तराधिकारी की नियुक्ति भी करनी पड़ती है। परन्तु कबीर साहब के देहावसान के पश्चात् ही कबीर-पन्थ विशेष अस्तित्व में आया। इस पन्थ के साधु सुव्यवस्थित सस्था मे न रहकर पर्यटन-मात्र किया करते थे। पर 'नानक-पन्थ' के मूल प्रवर्तक गुरु नानक देव ने 'अगद' को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और यह पन्थ सिख नामक जाति-विशेष के रूप में परिणत हो गया। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे सन्त भी हुए जिन्होंने सन्तमत से प्रभावित हो उनके भाव-साम्यों को अपनी रचनाओं में प्रकट किया। इनमें से सूर, मीरा तथा जायसी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कबीर के जीवन-काल मे ही बहुत से व्यक्ति उनके अनुयायी बन चुके थे। आपके धर्म का रूप साम्प्रदायिक न होकर सार्वभौम था। इस कारणवश पन्थ का कोई महत्त्व ही न था। कबीर के शिष्य कमाल भी 'पन्थ-रचना' के विरुद्ध थे। आप के एक अन्य शिष्य पद्मनाभ भी कहे जाते हैं, जिन्होने 'राम-कबीर-पन्थ' का प्रचार अयोध्या में किया, परन्तु उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। इसके अतिरिक्त आपके चार शिष्यों में से एक धर्मदास द्वारा 'पन्थ' की धर्मदासी शाखा का चलाया जाना प्रसिद्ध है तथा इसके विरुद्ध १२ पन्थो का चलाया जाना भी कबीर-पन्थ के ग्रन्थों में कहा है। अनुराग-सार के अनुसार १२ प्रवर्तक दूतो के नाम क्रमश: 'मृत्यु अधा', 'तिमिर दूत', 'अध अचेत', 'मनभग', 'ज्ञानभगी', 'मकरन्द', 'चित्तभग', 'अकिलभग', 'विसम्भर', 'नकटा', 'दुरगदानि' तथा 'हस मुनि' है। इन नामो का कुछ परिचय हमे तुलसी साहब के 'घटरामायन' तथा परमानन्द साहब के 'कबीर मन्सूर' नामक ग्रन्थो की सहायता से मिलता है। ये नाम वास्तव में क्रमशः नारायणदास, भागोदास, सुरतगोपाल, साहेबदास, टकसारी-पन्थ-प्रवर्तक, कमाली, भगवानदास, जगजीवनदास, प्राणनाथ, तत्वाजीवा तथा गरीबदास के है और इनके पन्थ आज भी विभिन्न प्रदेशो मे प्रसिद्ध है। इस पन्थ की काशी शाखा के प्रवर्त्तक 'सुरत गोपाल' कहे जाते है। इन्होने 'कबीर चौरा' वाली शाखा को प्रचलित किया। आपकी 'अमर सुखनिधान' नामक रचना के विषय एव भाषा से यह ग्रन्थ उनका नही जान पडता है। इनके शिष्य तथा इनकी समाधियाँ जगन्नाथपुरी मे बताई जाती है। अतः इनकी सातवीं पीढी मे गुरु सुखदास के समय मे इस चौरे पर पन्थ का अधिकार बताया जाता है। गुरुओं की समाधि गुरु शरणदास के समय से बनने लगी और तभी से केन्द्र का प्रबन्ध सुचारु रूप से होने लगा। कबीर चौरा का मठ काशी नगर के अन्तर्गत एक मुहल्ले मे आज भी विद्यमान है। मुख्य कबीर चौरा के स्थान पर इस समय एक मन्दिर बना हुआ है। यहीं स्थित मठ मे कबीर की प्रतिष्ठा हुई और पन्थ का प्रचार सुदृढता से होता रहा। इसी चौरे के एक कोस पर लहरतारा है। इसके अतिरिक्त 'मगहर' भी तीर्थवत् पूज्य-स्थान कहा जाता है। यहाँ पर स्थित मठ के दो विभागो मे कबीर की पूजा की जाती है। इस शाखा के अन्तर्गत मध्यप्रदेश का बुरहान वाला मठ, पुरी की समाधि तथा द्वारका का मठ भी कहा जा सकता है।

कबीर-पन्थ

छत्तीसगढी शाखा के प्रवर्त्तक धर्मदासजी कहे जाते हैं, जिसका मुख्य केन्द्र

मध्य प्रदेश है। इस शाखा के अनुयायी पूर्व से अधिक हैं। धर्मदास के जीवन-वृत्त के विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं। कबीर-पन्थी ग्रन्थों में आपको कबीर का दर्शन प्राप्त होना बताया जाता है, परन्तु काल-निर्णय से यह प्रमाणित नहीं होता। धर्मदास द्वारा इस पन्थ को बड़ी सहायता मिली। धर्मदास की रचनाएँ 'शब्दावली' नाम से सगृहीत हैं। आपके पद भक्ति-रसाप्लावित हैं। आपने कबीर को अपना गुरु ही नहीं इष्टदेव भी माना है। इसके बाद ४२ पीढ़ियों तक इस मत के प्रचार होने का निर्देश कबीर साहब ने किया था, परन्तु इन पीढियों में आगे चलकर गुरु का होना पैतृक अधिकार हो जाने के कारण पारस्परिक कलह-जैसी समस्याएँ उपस्थित होने लगीं। इस शाखा के पाँचवें गुरु प्रमोध के समय में इस पन्थ की बड़ी उन्नति हुई। इसीलिए इस समय को 'स्वर्णयुग' कहा गया तथा 'सुरतसनेही' के बाद का समय इस दृष्टि से अवनति-काल कहलाया।

धनौती शाखा—कबीरचौरा शाखा के ही अन्तर्गत बिहार में एक मठ प्रसिद्ध है जो 'भगताही' शाखा से सम्बन्धित है। इसके मूल प्रवर्त्तक भगवान् गोसाई थे। आपका पहले निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित होना कहा जाता है और फिर कबीर साहब के सम्पर्क से आपमें विचार-परिवर्तन हो गया। आपने कबीर के शब्दों व साखियों का क्रमबद्ध संग्रह किया था, पर ऐतिहासिक प्रमाण द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि आप उनके समकालीन रहे होंगे। इनके अतिरिक्त भी अनेक शाखाओं का प्रचार हुआ।

इन शाखाओं तथा उपशाखाओं का उल्लेखनीय अन्तर स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। कबीरचौरा वाली का अधिक ध्यान ज्ञान-मार्ग की ओर, छत्तीसगढी का कर्मकाण्ड की ओर तथा धनौती वाली का भक्ति की ओर है।

इस पन्थ की उत्पत्ति एवं विकास के लिए प्रारम्भिक क्षेत्र पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, उत्कल एव मध्य प्रदेश का भूखण्ड था, जहाँ से प्रचारित होकर यह सुदूर-दक्षिण तक फैला। उत्कल प्रान्त, जो हिन्दू-धर्म का प्रधान केन्द्र था, वहाँ पर बौद्ध धर्म का भी प्रभाव अत्यधिक था।

कबीर-पन्थ के विकास की प्रारम्भिक दशा में उसके प्रचारकों का सघर्ष बौद्धमत वालों से हुआ। अतः उस धर्म को आत्मसात् किया और अन्त में उनके

पन्थ का सिद्धान्त

'धर्म' या 'निरजन' की शक्तिहीनता एव कबीर की शक्ति-मत्ता सिद्ध होने लगी थी। उनकी 'शून्य पुराणस्त्र' 'धर्म-गीता' की सृष्टि-रचना की कथा को कबीर-पन्थी साहित्य ने 'अनुराग-सागर' में कुछ योग के साथ लिखा। हिन्दुओं के पौराणिक

धर्म की बातें क्रमशः बौद्धो के सम्प्रदायों एव नाथपन्थ मे परिवर्तित होकर कबीर-पन्थ मे सम्मिलित हो गई । प्रजापति-धर्म फिर निरञ्जन बन गए और आद्या-शक्ति एव प्रकृति ने माया नारी का रूप धारण किया। इसी प्रकार इनकी 'चौकाविधि' आदि कर्मकाण्डी विधानो मे तान्त्रिक बातो का 'सेकोद्देशविधि' का प्रभाव स्पष्ट दीख पडता है। इस विधि के पश्चात् 'जोतप्रसाद' की भी व्यवस्था की जाती है। इन सब विधियों की रहस्यपूर्ण व्याख्या भी की गई है, जैसे नारियल तोडने को अहिंसात्मक बलिदान मानना। बौद्ध-जातकों की भाँति कुछ ग्रन्थ भी इस पन्थ मे दीख पडते है। कबीर को अवतारी प्रकट कर अनेक कथाओं की सृष्टि की गई, जो पौराणिक कथाओ की भाँति है। इस प्रकार का साहित्य धर्म-दासी सम्प्रदाय का है, जैसे 'सुखनिधान', 'अमरमूल', 'गुरु-माहात्म्य', 'गोरख-गोष्ठी', 'अनुरागसागर', 'निरञ्जनबोध' और 'कबीर-मन्सूर' आदि। इसके अति-रिक्त कुछ पुस्तकों मे चरित्र तथा कुछ मे 'भाष्य' रूप से दार्शनिक सिद्धान्तो की भी व्याख्या की गई है। 'कबीर-मन्सूर' के अनुसार जीव पूर्वतः सत्य रूप हसा मे था। फिर उसे आनन्द के कारण आत्म-विस्मृति हुई, जिससे कच्ची देह वाला बन गया। सूक्ष्म देह से स्थूल शरीरधारी बन गया। उनके अनुसार वासनामय जीव को आत्यन्तिक नित्य सुख की प्राप्ति 'पारख' या सद्गुरु की सहायता से ही उपलब्ध होती है। यह स्थिति 'पारखपद' सर्वोच्च है। 'बीजक' के भाष्यो के विवेचन की शैली अत्यधिक तर्कसगत एव पाण्डित्यपूर्ण है। पन्थग्रन्थी, त्रिज्या, और निर्णय सागर इसके स्पष्ट उदाहरण है।

हिन्दी के सन्त-कवियो द्वारा सस्थापित समस्त पन्थो या सम्प्रदायों की तुलना मे नानक-पन्थ या सिख-धर्म सर्वाधिक सजीव और सचेत पन्थ है। भारतवर्ष मे

नानक-पन्थ अथवा सिख-धर्म

जितना उत्कर्ष इस पन्थ का हुआ है, उतना कदाचित किसी भी पन्थ का नहीं। सिख-धर्म तथा खालसा सम्प्रदाय के इतिहास पर भी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है और इसलिए इसकी विकास-रेखा निधारित करने के लिए हमे अँधेरे मे भटकने की आवश्यकता नहीं है।

सिख-धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक का जन्म विक्रमीय सवत् १५२६ के वैशाख शुक्ल तृतीया (१५ अप्रैल, १४६९) को राइ भाई के तलवडी ग्राम मे हुआ। यह ग्राम लाहौर से दक्षिण-पश्चिम तीस मील की दूरी पर स्थित है। नानकजी के पिता कालूचन्द इसी ग्राम के पटवारी थे। इनकी माता का नाम तृप्ता था। नानक बाल्यावस्था से बडे शान्त-स्वभाव और भगवद्-भक्त थे। पाँच वर्ष की अवस्था मे ही इन्होंने अपने असाधारण मेधावी होने का परिचय

दिया। बाल्यावस्था में ही इन्हें पजाबी, संस्कृत, हिन्दी एवं फारसी का अच्छा ज्ञान हो गया। धर्म एवं आत्मचिन्तन की ओर इनकी प्रवृत्ति पहले ही से थी। प्रसिद्ध है कि इन्होंने जयराम की सहायता से दौलत खाँ लोदी के यहाँ मोदी-खाने में कुछ दिन तक नौकरी भी की थी। इनका विवाह बाटला जिला के गुरुदासपुर-निवासी मुला की पुत्री सुलक्खनी के साथ सम्पन्न हुआ था। इस दम्पति से श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द नामक दो पुत्र हुए। यही श्रीचन्द 'उदासी सम्प्रदाय' के प्रवर्तक एवं प्रसिद्ध साधक थे। मोदीखाने में नौकरी करते समय इनका भाव परिवर्तित हो गया। संसार की विनाशशीलता देखकर इन्होंने दृढ़ता के साथ अविनाशी के चरणों में अपना मन लगाया और 'ना हिन्दू ना मुसलमान' का उपदेश देकर अपने औदार्य का परिचय दिया। मर्दाना इनका अभिन्न साथी और भक्त था। नानक भ्रमणशील व्यक्ति थे। सैयदपुर, हरद्वार, पाकपट्टन, सियालकोट, काबुल, मदीना तथा सिंहल-द्वीप आदि की यात्रा करके इन्होंने अपने आदर्शों और सिद्धान्तों का प्रचार किया। अन्तिम समय में नानक ने अपने शिष्य लहिना को अपना उत्तराधिकारी बनाया। लहिना को आसन पर बिठाकर गुरु नानक ने उसके समक्ष विधिपूर्वक नारियल और पैसे की भेंट की। लहिना के समक्ष सिर झुकाकर अन्य सिखों को भी उसे गुरु मानने का आदेश दिया।

आसन पर बिठाकर नानक ने लहिना को अगन्द नया नाम दिया। नानक देव की मृत्यु आश्विन शुक्ला १० संवत् १५९५ (सन् १५३८) को करतार पुर में हुई।

नानकजी ने समय-समय पर बहुत से पदों की रचना की। ये पद 'ग्रन्थ साहिब' में संगृहीत हैं। 'जपुजी' इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना है। इसमें कुल ३८ छन्द हैं। इनकी दूसरी प्रसिद्ध रचना है 'आसा दीवार'। इसी प्रकार '२४ पौढ़ियाँ', 'रहिरास', 'सोहिला' आदि नानक की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनका वर्ण्य-विषय ब्रह्म, गुरु, जीव, जगत, माया, भक्ति, क्षणभगुरता, चेतावनी आदि हैं।

गुरु अंगद

गुरु अंगद के पिता का नाम फेरू और माता का नाम दया कुँवरि था। अंगद का जन्म इसी दम्पति से मिती ११ वैशाख संवत् १५६१ वि० (सन् १५०४ ई०) को हुआ। इनके पिता फ़ीरोजपुर जिले के 'मत्ते-दी सराय' स्थान के निवासी और व्यापारी थे। अंगद पूर्व नाम लहिना ने मत्ते-दी-सराय की निवासिनी खीवी से विवाह किया। लहिना (अंगद) खीवी दम्पति से दातू और दासू नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। अमृतसर जिले के तरनतारन तहसील के खडूर ग्राम के ये निवासी

थे। लहिना शक्ति के उपासक थे। परन्तु जोधा नामक सिख द्वारा गायी 'आसा दी वार' की पंक्ति को सुनकर ये नानक की विचारधारा से वहुत प्रभावित हुए। करतारपुर पहुँचकर इन्होंने अपनी लगन, भक्ति और एकाग्रता का अनेक वार परिचय दिया और अंततोगत्वा नानक के कृपापात्र बने। गुरु नानक के देहावसान मे अगद को वियोग का बडा गम्भीर अनुभव हुआ और वहुत समय तक इन्होंने एकान्त-साधना की। शेरशाह से पराजित पश्चिम की ओर पलायन करने मे विवश शाहंशाह हुमायूँ से भी गुरु अंगद एक बार सम्मानित हुए। अंगद के ही आशीर्वाद से हुमायूँ युद्ध मे विजयी हुआ। अमरु अथवा अगर-दास इनके सर्वप्रिय शिष्य थे। चैत्र शुक्ल ३ सवत् १६०९ (सन् १५५२ ई०) को गुरु अगद ने अपने नश्वर शरीर का विसर्जन किया।

गुरु अगद ने सर्वप्रथम गुरु नानक की रचनाओं को एक नवीन लिपि गुरुमुखी मे लिखाना प्रारम्भ किया था। इस लिपि का निर्माण शारदा, लहडी और देवनागरी अक्षरो के आधार पर किया गया था। इसी लिपि मे गुरुओ की जीवनी और रचनाओं का सग्रह किया गया। सवत् १६०१ में 'जन्मसाखी भाई बाले' की रचना हुई। गुरु अगद की रचनाएँ 'ग्रन्थ साहिव' के महला : २ मे सगृहीत है।

अमरदास के पिता तेजभान अमृतसर के निकटस्थ वसरका नामक ग्राम के निवासी थे। तेजभान की स्त्री वरवत कुँवरि से चार पुत्र उत्पन्न हुए जिनमे अमरदास सवसे वडे थे। गुरु अमरदास का जन्म वैशाख शुक्ल १४ सवत् १५३६ (सन् १४७९) को हुआ। इनके परिवार का पैतृक व्यवसाय खेती एव व्यापार था। तेइस

गुरु अमरदास

वर्ष की अवस्था मे इनका विवाह मनसादेवी के साथ हुआ। इस पत्नी से दो पुत्र—मोहरी और मोहक तथा दो पुत्रियाँ रानी तथा भानी उत्पन्न हुई। पहले ये वैष्णव-भक्ति मे विश्वास रखते थे। अतः नित्यप्रति शालिग्राम की पूजा करते थे। एक दिन उन्होंने अपने भतीजे की पत्नी वीवी—अमरू (गुरु अगद की पुत्री) के सुरीले कण्ठ से प्रस्फुटित गुरु नानक-विरचित एक पद सुना। पद की कतिपय पक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

करणी कागद मनु मसवाणी, वुरा भला दुइ लेख पये।
जिउ जिउ किरतु चलाए तिउ चलिए, तउ गुण नाहीं अंतह रे ॥१॥
चित चेतसि की नहीं वावरीआ, हरि विसरत तेरे गुण गलिया ॥
(रागुमारू, पद २, पृ० ९९१-२)

इस पद ने गुरु अमरदास पर सम्मोहक प्रभाव डाला। वीवी अमरू के

साथ जाकर गुरु अगद से उन्होंने भेट की और उन्हीं के पास शिष्य के समान रहने लगे। कालान्तर मे अमरदास, गुरु अगद के प्रिय और विश्वासपात्र शिष्य बन गए। गुरु अगद की गद्दी प्राप्त करने के समय अमरदास की अवस्था ७३ वर्ष की हो चुकी थी। ये अधिकतर गोविन्दवाल (गोइन्दवाल) में रहा करते थे। गुरु अगद के पुत्र दातू द्वारा प्रताडित और प्रपीड़ित होने के कारण जीवन के अन्तिम वर्षों में ये गोइन्दवाल को छोडकर अपने जन्मस्थान वसरका मे निवास करने लगे। दातू ने एक बार इन्हे गद्दी मे अपदस्थ करके स्वय अपने गुरु होने की घोषणा कर दी। कुछ समय के बाद, अनुयायियों के आग्रह से, गुरु अमरदास पुनः गोइन्दवाल मे आकर गद्दी पर रहकर, गुरुवत आचरण करते हुए, भगवद्-भजन मे तल्लीन रहने लगे। ये समानता के बडे प्रतिपादक थे। लगर और कीर्तन मे सबको एक पक्ति मे बैठना पडता था। कहा जाता है कि एक बार जब शहशाह अकबर इनके दर्शनार्थ आये तो उन्हे भी एक पक्ति मे एक भाव से बैठकर उपदेश सुनना पडा। प्रसिद्ध है कि एक बार अकबर ने गुरु अमरदास को अपने यहाँ आमन्त्रित किया, पर वे इतने वृद्ध थे कि यात्रा का कष्ट सहन करने के लिए उद्यत नहीं हुए।

गुरु अमरदास ने अपनी पुत्री भानी का विवाह लाहौर नगर के चूनामण्डी मुहल्ले के निवासी हरिदास खत्री के पुत्र जेठा के साथ किया। जेठा बाल्यावस्था से सतसग-प्रेमी और भगवद्-भक्त था। गुरु अमरदास के ससर्ग से उसकी यह प्रवृत्ति द्विगुणित हो गई। आगे चलकर यही जेठा गुरु अमरदास की गद्दी पर बैठकर गुरु रामदास के नाम से विख्यात हुआ। कहा जाता है कि जब वृद्धावस्था के कारण गुरु अमरदास अकबर के पास न जा सके, तो उन्होंने जेठा को भेज दिया। जेठा की निष्ठा, साधना और भगवद्-भक्ति से अकबर बहुत प्रभावित हुआ।

गुरु अमरदास की महाप्रस्थान-तिथि है भाद्र पूर्णिमा, सवत् १६३१। इनकी रचनाओं में 'आनन्द' सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

गुरु रामदास

गुरु रामदास का जन्म मगलवार, मिती २, कार्तिक कृष्णपक्ष, सवत् १५९१ (१५३४ ई०) को दयाकुँवरि के गर्भ से हुआ। गुरु रामदास ने अपनी साधना का केन्द्र सन्तोषसर बनाया। यह स्थान गोइन्दवाल से २५ मील की दूरी पर है। इन्होंने साम्प्रदायिक आदर्शों के प्रचार के लिए अनेक मन्सदो की नियुक्ति की। इनके तीन पुत्र हुए, जिनके नाम थे पृथीचन्द, महादेव तथा अर्जुन। इनमे से प्रथम दो तुच्छ प्रकृति के थे, परन्तु अर्जुन बडे उदार और भक्त थे। इन तीनो के सम्बन्ध मे

अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। अर्जुन की योग्यता से सन्तुष्ट होकर गुरु रामदास ने उसी को अपना उत्तराधिकारी निर्धारित किया। गुरु रामदास का महाप्रयाण भाद्र शुक्ल ३, संवत् १६३८ (१५८१ ई०) को हुआ।

गुरु रामदास की सभी रचनाएँ 'ग्रन्थ साहिब' में सगृहीत हैं। उनकी रचनाएँ भिन्न रागों मे विभाजित हैं। 'महला ४' मे उनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं।

गुरु अर्जुनदेव

रामदास एव भानी दम्पति से अर्जुनदेव का जन्म वैशाख कृष्ण ७ स० १६२० (१५६३ ई०) को गोइन्दवाल मे हुआ। प्रसिद्ध है कि गुरु अमरदास (इनके नाना) इन्हे बहुत मानते और चाहते थे। बाल्यावस्था से ही ये भगवद् भक्त और सत्सग-प्रेमी थे। इनके कोमल हृदय पर गुरु अमरदास का व्यापक और गम्भीर प्रभाव पड़ा। इनका विवाह जिला जालंधर के मेओ ग्राम के निवासी किसनचन्द की पुत्री गगा से सम्पन्न हुआ। गुरु रामदास के निधन पर इनके नाना मोहरी ने इन्हे उत्तराधिकारी मानते हुए परम्परा के रूप मे एक साफा अर्पित किया। इसका विरोध इनके सबसे बडे भाई प्रिथिया ने किया। अर्जुनदेव ने सहर्ष उस कपडे को प्रिथिया के हवाले कर दिया और स्वय गोइन्दवाल से हटकर अमृतसर चले आए। गुरु अर्जुन की पत्नी गगा के गर्भ से हरगोविन्द बालक का जन्म हुआ जो आगे चलकर एक प्रसिद्ध गुरु बना। गुरु अर्जुनदेव ने अपने से पूर्व आविर्भूत समस्त गुरुओं की रचनाओ को सकलित कराया। इस कार्य मे प्रिथिया ने बडी बाधा डाली। अत. प्रामाणिकता सुरक्षित रखने के लिए ये स्वतः गुरु अमरदास के ज्येष्ठ पुत्र मोहन के पास गोइन्दवाल गये और गुरुओं की रचनाएँ माँगकर ले आए। वह सग्रह भाई गुरुदास द्वारा सवत् १६६१ (सन् १६०४) के भाद्र मास की प्रथम तिथि को प्रस्तुत हुआ। ग्रन्थ के अन्त मे 'रागमाला' भी दी हुई है। हरगोविन्द की विवाह-समस्या को लेकर चन्दूशाह और गुरु अर्जुन मे बडा मतभेद हो गया। इसके फलस्वरूप चन्दूशाह ने गुरु के विरुद्ध अनेक प्रकार के षड्यन्त्रों की रचना की। अकबर उदार शासक था, अतः चन्दूशाह की कुछ न चली। अकबर की मृत्यु के बाद जहाँगीर ने चन्दूशाह और प्रिथिया के सकेत पर इन्हे भीषण यातनाएँ दी। यातनाओ के फलस्वरूप इनका पार्थिव शरीर क्षत-विक्षत हो गया। अन्त मे ज्येष्ठ शुक्ल ४ सवत् १६६३ (जून, १६०६ ई०) को ४३ वर्ष की अवस्था में इन्होने रावी के निकट शरीर परित्याग किया और अपने अनन्तर हरगोविन्द को गुरु मानने का आदेश दिया।

गुरु अर्जुनदेव की सर्वप्रसिद्ध रचना है 'सुखमनी'। इसमे दस-दस पक्तियो की २४ अष्टपदियाँ सगृहीत हैं। इसका पाठ प्रातःकाल 'जपुजी' के पाठ के

अनन्तर किया जाता है। इनके अतिरिक्त 'बावन अखरी', 'बारामासा' तथा भिन्न-भिन्न रागों में विरचित कई एक स्फुट पद 'महला ५' के नीचे दिये गए हैं। इनकी संख्या ६००० से भी अधिक है। सिख धर्म और सिख जाति के उत्थान, प्रचार और समृद्धि के लिए अर्जुनदेव का योगदान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और उपादेय है।

गुरु हरगोविन्द का जन्म आषाढ़ कृष्ण ६, संवत् १६५२ (१४ जून, १५९५ ई०) को वडाली ग्राम में गंगा बीबी के गर्भ से हुआ। गुरु अर्जुनदेव के समय तक सिख गुरुओं और अनुयायियों का ध्यान आध्यात्मिक साधना और सिख-मत के प्रचार तक ही केन्द्रित रहा। परन्तु देश की परिवर्तनशील परिस्थितियों और तत्कालीन शासकों की पक्षपातपूर्ण नीति ने इन सिखों को सचेत रहकर साधना करने के लिए विवश कर दिया। गुरु अर्जुनदेव के साथ घटित अमानुषिक घटनाओं ने सिखों में भीषण प्रतिक्रिया समुत्पन्न कर दी। सरल एवं सहज साधना में कटुता का सञ्चार हो गया।

गुरु हरगोविन्द

गुरु हरगोविन्द के पिता की अंत्येष्टि क्रिया सम्पन्न हो जाने के बाद भाई बुड्ढा ने इन्हें नवीन वस्त्र पहनाए और इनके समक्ष सेली तथा दुपट्टा समर्पित किया। गुरु हरगोविन्द ने परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार युद्धोपयोगी तलवार कमर में बाँध ली। धीरे-धीरे घोड़े एकत्र किये गए। आषाढ़ शुक्ल ५ संवत् १६६३ को स्वर्णमन्दिर के गलियारे में 'तख्त अकाल बुंगे' की स्थापना की गई, जहाँ आज भी सिख अपने महत्त्वपूर्ण शास्त्रों की रक्षा किया करते हैं। इन रक्षकों में से प्रमुख ५२ को चुनकर उन्हें आत्मरक्षक के रूप में नियुक्त किया गया। आगे चलकर यही गुरुओं की सिख सेना के प्रथम सिपाही बने। गुरु हरगोविन्द आखेट-प्रिय भी थे। बादशाह और हरगोविन्द के मध्य मित्रता बनी रही। गुरु हरगोविन्द के दो पत्नियाँ थीं प्रथम का नाम दामोदरी और द्वितीय का नाम नानकी था। दामोदरी से कार्तिक शुक्ल १५ सं० १६७० (१६१३ ई०) को गुरुदित्ता उत्पन्न हुए। नानकी के गर्भ से वैशाख कृष्ण ५ सं० १६७९ (१६२३ ई०) को तेगबहादुर का जन्म हुआ। आगे चलकर गुरुदित्ता से माघ शुक्ल १३ सं० १६८७ (सन् १६३०) को गुरु हरगोविन्द को एक पौत्र हुआ। इस बालक का नाम हरराय रखा गया और यही इनका उत्तराधिकारी बना। एक बार आखेट में गुरु हरगोविन्द के अनुयायियों और शाहजहाँ के अनुचरों में संघर्ष भी हुआ।

गुरु हरगोविन्द ३७ वर्ष तक गद्दी पर रहे। चैत्र सुदी ५, सं० १७०१

(सन् १६४४) को गुरु हरगोविन्द का निधन हुआ। मृत्यु से कुछ समय पूर्व उन्होंने अपने पौत्र हरराय को गद्दी पर बिठा दिया था।

गुरु हरराय

गुरु हरराय बाल्यावस्था से ही भगवद्-भक्त और कोमल चित्त वाले व्यक्ति थे। ये औरगजेब के समकालीन थे। एक बार औरगजेब ने इन्हे अपने दरबार मे तलब किया। कारणवश ये स्वय तो न जा सके पर अपने पुत्र रामराय को भेज दिया। रामराय से औरगजेब ने प्रश्न किया कि 'गुरु ग्रन्थ साहिब' मे मुसलमान शब्द का प्रयोग इस्लाम के लिए अपमानजनक है या नही। रामराय ने कहा कि 'मुसलमान' शब्द के स्थान पर 'बेईमान' होना चाहिए। इस कथन से औरङ्गजेब तो सन्तुष्ट हो गया परन्तु गुरु हरराय बड़े दुखी और असन्तुष्ट हुए। उन्होने रामराय को उत्तराधिकार मे वन्चित करके हरकृष्णराय को गद्दी दी। कार्तिक कृष्ण ७ सवत् १७१८ (सन् १६६१) को गुरु हरराय का निधन हुआ।

गुरु हरकृष्णराय

गुरु हरकृष्णराय का जन्म गुरु हरराय की धर्मपत्नी कृष्णकुँवर से श्रावण शुक्ल ९, सवत् १७१३ (सन् १६५६) को हुआ। पॉच वर्ष एव तीन मास की अल्पावस्था मे इन्हे गद्दी पर आसीन किया गया। चैत्र का मास था। औरगजेब के आमन्त्रण पर राजा जयसिह के अनुरोध और आश्वासन पर औरजेब से मिलने के लिए दिल्ली जा रहे थे। मार्ग मे यात्रा के चतुर्थ दिवस पर ज्वर का भीषण आक्रमण हुआ। अन्त मे चैत्र शुक्ल १४, सवत् १७२१ (सन् १६६४) को सात वर्ष की अवस्था मे इनका देहान्त हो गया।

गुरु तेगबहादुर

गुरु तेगबहादुर चैत्र शुक्ल १४, स० १७७२ (२० मार्च, १६६५) को गुरु-गद्दी पर बैठे। गुरु-गद्दी पर इनके बैठने का हाल सुनकर इनके भाई करिमल ईर्ष्या-द्वेष से सन्तप्त हो उठे और उन्होने मसदो को भेजकर इनका वध करा देने का प्रयत्न किया। मसदो ने प्रयत्न तो किया पर असफल रहे। सोढी परिवार के खत्री भी इनसे द्वेष रखने के कारण इन्हे सदैव सताया करते थे, अतः आषाढ स० १७२२ (सन् १६६५) को कीरतपुर का परित्याग करके ये आनन्दपुर आ गए। यहॉ भी धीरमल गुरु तेगबहादुर के पीछे पड़े रहे। अतः ये भ्रमण के लिए निकल पड़े। इन्होने थानेश्वर, प्रयाग, मुँगेर, मालदा और पटना का भ्रमण किया। कड़ा में ये सत मूलकदास से मिले थे। पौष शुक्ल ७, सवत् १७२३ (१६६६ ई०) को पटना में इनके पुत्र उत्पन्न हुआ।

कालान्तर मे औरगजेब द्वारा गुरु तेगबहादुर बन्दी बनाए गये और भीषण

यातनाओं को सहन करते हुए इन्होंने अगहन शुक्ल ५, संवत् १७३२ (सन् १६७५) को अपना शरीर परित्याग किया। गुरु तेगबहादुर वीर, साहसी और दयालु प्रकृति के व्यक्ति थे। उनकी सुन्दर रचनाएँ 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में उपलब्ध हैं।

गुरु गोविन्दसिंह की बाल्यावस्था पटना मे व्यतीत हुई। कालान्तर में ये अपनी माता के साथ आनन्दपुर पहुँचे। यात्रा में मिर्जापुर, बनारस, अयोध्या, लखनऊ आदि प्रमुख नगरो को देखा। बाल्यावस्था से ही गुरु गोविन्द सिंह इन्हें शारीरिक श्रम, व्यायाम, सन्तरण, मल्लयुद्ध, लक्ष्य-सन्धान, आखेट तथा अन्य साहस से परिपूर्ण कार्यों में विशेष आनन्द आता था। आनन्दपुर पहुँचने पर इन्हे अपनी रुचि के अनुसार बडा अनुकूल वातावरण और समाज मिला। गुरु-गद्दी पर बैठने के अनन्तर भी इनकी यह प्रवृत्ति बराबर बनी रही। इनकी प्रसिद्धि और ख्याति का इतना प्रसार हुआ कि आसाम के राजा राम का द्वादशवर्षीय पुत्र रतनराय इनसे मिलने के लिए आनन्दपुर आया और साथ मे बहुत-सी भेंट लाया। पिता की अकाल मृत्यु और भीषण यातनाओं का विवरण सुनकर गुरु गोविन्दसिंह में प्रतिकार की भावना जागृत हो उठी और आप तात्कालीन शासकों को हानि पहुँचाने के लिए सदैव तत्पर रहने लगे। गुरु गोविन्दसिंह ने देहरादून से ३० मील की दूरी पर पाँटा नामक दुर्ग बनवाया। माघ सुदी ४, सवत् १७४३ (१६८७ ई०) को उनकी पत्नी सुन्दरी ने एक पुत्र को जन्म दिया। बाद मे इसका अजीतसिंह नाम रखा गया। इनकी दूसरी पत्नी ने चैत्र कृष्ण ७, संवत् १७४७ को जोरावरसिंह तथा माघ शुक्ल १, सवत् १७५३ (सन् १६९७) को जुझारसिंह को जन्म दिया। जुझारसिंह के जन्म पर आचार्य केशवदेव के पुत्र कुँवर बधाई देने आये। इनका चतुर्थ पुत्र फतेहसिंह जिता से फाल्गुन कृष्ण ११, सवत् १७५५ (सन् १६९९) को उत्पन्न हुआ। गुरु गोविन्द सिंह ने सिखों में वीरता, प्रतिशोध और साहस की भावना का सचार कर दिया। इन्होंने सिखों का सगठन करके उनकी जाति-पाँति की भावना विनष्ट करके उन्हें धार्मिक एकता के सूत्र मे निबद्ध कर दिया। गोविन्दसिंहजी ने ही खालसा-पन्थियों के लिए कटार, कंघा, कच्छा, केश एव कड़ा पहनना अनिवार्य कर दिया तथा 'वाह गुरुजी का खालसा' तथा 'वाह गुरुजी की फतेह' को महामन्त्र बताया। यह प्रथम दीक्षा बैशाख कृष्ण १, स० १७५६ को सम्पन्न हुई। औरंगजेब की फौजों से इनका कई बार संग्राम एव संघर्ष हुआ। इनके दो पुत्रों—जुझारसिंह (अवस्था ९ वर्ष) तथा फतेहसिंह (अवस्था ७ वर्ष) को

औरगजेब ने पूस कृष्ण १३, संवत् १७६२ (सन् १७०५) को दीवार मे इसलिए चुनवा दिया कि उन्होने इस्लाम धर्म अगीकार नहीं किया। शेष दो पुत्र—अजीतसिह तथा जोरावरसिंह युद्ध मे मारे गए।

गुरु गोविन्दसिंह ने अपने नश्वर शरीर को कार्तिक सुदी ५, सवत् १७६५ (सन् १७०८) को छोडा। इनका निधन नदेड मे हुआ था। इनकी रचनाओं का सग्रह 'दसवॉ पातसाह का ग्रन्थ' नाम से प्रसिद्ध है। सन् १७३४ मे भाई मनीसिह ने इसे प्रस्तुत किया था। गुरु गोविन्दसिह विद्वान, योद्धा, नीतिज्ञ और साहसी थे। हिन्दू-धर्म की रक्षा और 'खालसा सम्प्रदाय' के विकास मे इन्होने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

वीर बन्दा बहादुर

इनका पूर्वनाम लक्ष्मण देव था। इनका जन्म कार्तिक शुक्ल ११, सवत् १७२७ (सन् १६७०) मे राजोरी ग्राम मे एक काश्मीरी खत्री के घर हुआ। युवावस्था मे ये बडे क्रूर और हिंसात्मक प्रकृति के व्यक्ति थे। श्रावण स० १७६४ मे गुरु गोविन्दसिंह से इनकी भेट हुई और अत्यधिक प्रभावित होने के कारण वे उनके शिष्य बन गए। गुरु गोविन्दसिह ने इन्हे खालसा बनाकर गुरुबख्शसिंह नाम दिया। आगे चलकर ये बन्दा नाम से विख्यात हुए। मुगल-सेना से इन्होने कई बार सफलता के साथ मोर्चा लिया और उनके दॉत खट्टे किये। दशम गुरु गोविन्द सिंह के द्वारा प्रदर्शित पथ पर ये बहुत समय तक चलते रहे। इन्होंने अपनी करवाल से मुसलमानों को आतकित कर दिया। अन्त में अह ने इनके मस्तिष्क मे स्थान कर लिया। गुरु गोविन्दसिंह की आज्ञा का उल्लघन कर इन्होने मण्डी-नरेश की सुन्दरी पुत्री से विवाह कर लिया। इन्होने 'वाह गुरु की फतेह' मन्त्र को बदलकर 'बन्दा की दर्शनी फतेह' कर दिया, अमृत को हटाकर अपना चरणोदक प्रचलित किया। यह सब देखकर सिख बड़े रुष्ट हुए। उन्होने इन्हे अपदस्थ कर दिया। यहीं से बन्दा का पतन प्रारम्भ हुआ। पारस्परिक फूट और वैमनस्य का लाभ मुसलमानों ने उठाया। गुरुदासपुर की चार मास की लडाई मे सिख बुरी तरह पराजित हुए। स० १७७६ मे अब्दुल समदखॉ तौरानी ने बन्दा को बन्दी बनाया और फर्रुखसियर के पास दिल्ली पहुँचा दिया। वहॉ बडी क्रूरता, बर्बरता और निर्दयता के साथ इनका अन्त किया गया। वीर बन्दा के अधिकाश अनुयायी तलवार के घाट उतारे गए। उनके शेष अनुयायी 'बन्दई खालसा' कहलाए।

सासारिक विषमताओ के मध्य समन्वय का सन्देश लाकर पूर्णतया वैषम्य को दूर करने की चेष्टा आदि गुरु नानक देव का धार्मिक सिख-सम्प्रदाय क्रमशः

सिख़-धर्म अथवा ख़ालसा-सम्प्रदाय

गुरु गोविन्दसिंह के नेतृत्व में आकर 'ख़ालसा' रूप में परिणत हो गया। सिख-धर्म कोरा सैद्धान्तिक एवं आदर्शवादी मत का कभी नहीं रहा और न ऐसा होने पर वह कभी सन्त मत के अन्तर्गत समझा ही जा सकता था। यह दार्शनिकों का मतवाद न होकर सर्वसाधारणार्थ शुद्ध व्यावहारिक धर्म ही रहा। नानक के मत का वास्तविक रूप निर्धारित करते समय आपको हिन्दू, मुसलमान एवं अन्य धर्म का अनुयायी न मानकर विचार-स्वातन्त्र्य का ही परिपोषक कहा जा सकता है। आपके अनुसार धार्मिक जीवन एक साधना-प्रधान शिष्य का जीवन है। अतः वह कभी पूर्ण या अवतारी नहीं हो सकता। 'जपुजी' में बताया गया है कि साधक अपने 'अहं' भाव 'हउ मैं' को पन्थ में आते ही भूल जाता है और व्यक्तित्व समष्टि के साथ भेद का अनुभव नहीं करता तथा सभी को किसी व्यापक नियम 'हुकुम' के प्रति समर्पित समझता है। आपका मूल दार्शनिक सिद्धान्त उस सर्वात्मवाद की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार उस नित्य, निर्विशेष, एकमात्र सत्य एवं व्यावहारिक असीम सत्ता में कोई अन्तर नहीं। उस परमात्मा का स्वरूप निश्चित नहीं, वही सर्वत्र है, वही रसरूप है, वही अनुभवकर्ता है। 'जपु जी' में परमात्मा को ऐसी अन्विति के रूप में होना बतलाया है, जिसमें उस निर्विशेष सत्य के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व का समन्वय पाया जाए। उस नित्य वस्तु के प्रति आत्मसमर्पण कर उसके दिव्य गुणों वाले अलौकिक व्यक्तित्व को अपने आदर्शों का परम प्रतीक समझना चाहिए। अन्त में नानकदेव निश्चित साधना की रूपरेखा में 'धरम खण्ड', 'ज्ञान खण्ड', 'करम खण्ड' और 'सच खण्ड' नामक उत्तरोत्तर चार सीढ़ियों को उपस्थित करते हैं। इस प्रकार अन्तिम स्थिति पर पहुँचकर मनुष्य 'पंच' रूप कहाकर आदर्श बन जाता है। उक्त सर्वात्मरूप 'ओंकार' नामक परमात्मा के व्यक्तित्व की धारणा हेतु ही प्रार्थना को महत्त्व दिया गया है। इसका वास्तविक उद्देश्य केवल याचना ही नहीं अपितु भक्तिभाव-प्रदर्शन तथा उसके साथ तादात्म्यानुभव और अपनी प्रवृत्तियों को शक्तिप्रदान करना भी है। अन्य साधनाओं के अन्तर्गत मनोमारण के लिए साधन एवं साध्य भी 'नामस्मरण' तथा 'ईश-प्रार्थना' बताया गया है। 'सिख-धर्म' में कहीं-कहीं योगसाधना का भी उल्लेख किया गया है। इन साधनों के परिपालन हेतु तथा परमात्मा का साक्षात्कार पाने हेतु 'गुरु' का माध्यम आवश्यक बताया गया है। 'आदि ग्रन्थ' को भी 'गुरु ग्रन्थ साहिब' कहकर पूजित किया गया है। धर्मानुसार आदर्श एवं व्यवहार दोनों का सामंजस्य आवश्यकीय बताया है। यही इन सिख-गुरुओं ने अपने

कबीर-पन्थ

कबीर के जीवन-काल मे ही बहुत से व्यक्ति उनके अनुयायी बन चुके थे। आपके धर्म का रूप साम्प्रदायिक न होकर सार्वभौम था। इस कारणवश पन्थ का कोई महत्त्व ही न था। कबीर के शिष्य कमाल भी 'पन्थ-रचना' के विरुद्ध थे। आप के एक अन्य शिष्य पद्मनाम भी कहे जाते है, जिन्होने 'राम-कबीर-पन्थ' का प्रचार अयोध्या मे किया, परन्तु उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। इसके अतिरिक्त आपके चार शिष्यो मे से एक धर्मदास द्वारा 'पन्थ' की धर्मदासी शाखा का चलाया जाना प्रसिद्ध है तथा इसके विरुद्ध १२ पन्थो का चलाया जाना भी कबीर-पन्थ के ग्रन्थो मे कहा है। अनुराग-सार के अनुसार १२ प्रवर्तक दूतो के नाम क्रमशः 'मृत्यु अधा', 'तिमिर दूत', 'अध अचेत', 'मनभंग', 'ज्ञानभंगी', 'मकरन्द', 'चित्तभग', 'अकिलभग', 'विसम्भर', 'नकटा', 'दुरगदानि' तथा 'हस मुनि' है। इन नामों का कुछ परिचय हमे तुलसी साहब के 'घटरामायन' तथा परमानन्द साहब के 'कबीर मन्सूर' नामक ग्रन्थो की सहायता से मिलता है। ये नाम वास्तव मे क्रमशः नारायणदास, भागोदास, सुरतगोपाल, साहेबदास, टकसारी-पन्थ-प्रवर्तक, कमाली, भगवानदास, जगजीवनदास, प्राणनाथ, तत्वाजीवा तथा गरीबदास के है और इनके पन्थ आज भी विभिन्न प्रदेशो मे प्रसिद्ध है। इस पन्थ की काशी शाखा के प्रवर्त्तक 'सुरत गोपाल' कहे जाते है। इन्होने 'कबीर चौरा' वाली शाखा को प्रचलित किया। आपकी 'अमर सुखनिधान' नामक रचना के विषय एव भाषा से यह ग्रन्थ उनका नही जान पडता है। इनके शिष्य तथा इनकी समाधियाँ जगन्नाथपुरी मे बताई जाती है। अतः इनकी सातवी पीढी मे गुरु सुखदास के समय मे इस चौरे पर पन्थ का अधिकार बताया जाता है। गुरुओ की समाधि गुरु शरणदास के समय से बनने लगी और तभी से केन्द्र का प्रबन्ध सुचारु रूप से होने लगा। कबीर चौरा का मठ काशी नगर के अन्तर्गत एक मुहल्ले मे आज भी विद्यमान है। मुख्य कबीर चौरा के स्थान पर इस समय एक मन्दिर बना हुआ है। यही स्थित मठ मे कबीर की प्रतिष्ठा हुई और पन्थ का प्रचार सुदृढता से होता रहा। इसी चौरे के एक कोस पर लहरतारा है। इसके अतिरिक्त 'मगहर' भी तीर्थवत् पूज्य-स्थान कहा जाता है। यहाँ पर स्थित मठ के दो विभागो मे कबीर की पूजा की जाती है। इस शाखा के अन्तर्गत मध्यप्रदेश का बुरहान वाला मठ, पुरी की समाधि तथा द्वारका का मठ भी कहा जा सकता है।

छत्तीसगढी शाखा के प्रवर्त्तक धर्मदासजी कहे जाते है, जिसका मुख्य केन्द्र

मध्य प्रदेश है । इस शाखा के अनुयायी पूर्व से अधिक हैं। धर्मदास के जीवन-वृत्त के विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं । कबीर-पन्थी ग्रन्थों में आपको कबीर का दर्शन प्राप्त होना बताया जाता है, परन्तु काल-निर्णय से यह प्रमाणित नहीं होता । धर्मदास द्वारा इस पन्थ को बडी सहायता मिली। धर्मदास की रचनाएँ 'शब्दावली' नाम से सगृहीत है। आपके पद भक्ति-रसाप्लावित हैं। आपने कबीर को अपना गुरु ही नहीं इष्टदेव भी माना है। इसके बाद ४२ पीढियों तक इस मत के प्रचार होने का निर्देश कबीर साहब ने किया था, परन्तु इन पीढियों में आगे चलकर गुरु का होना पैतृक अधिकार हो जाने के कारण पारस्परिक कलह-जैसी समस्याएँ उपस्थित होने लगीं। इस शाखा के पाँचवें गुरु प्रमोध के समय मे इस पन्थ की बडी उन्नति हुई। इसीलिए इस समय को 'स्वर्णयुग' कहा गया तथा 'सुरतसनेही' के बाद का समय इस दृष्टि से अवनति-काल कहलाया।

धनौती शाखा—कबीरचौरा शाखा के ही अन्तर्गत बिहार में एक मठ प्रसिद्ध है जो 'भगताही' शाखा से सम्बन्धित है। इसके मूल प्रवर्त्तक भगवान् गोसाईं थे। आपका पहले निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित होना कहा जाता है और फिर कबीर साहब के सम्पर्क मे आपमे विचार-परिवर्तन हो गया। आपने कबीर के शब्दों व साखियों का क्रमबद्ध संग्रह किया था, पर ऐतिहासिक प्रमाण द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि आप उनके समकालीन रहे होंगे। इनके अतिरिक्त भी अनेक शाखाओं का प्रचार हुआ।

इन शाखाओं तथा उपशाखाओं का उल्लेखनीय अन्तर स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। कबीरचौरा वाली का अधिक ध्यान ज्ञान-मार्ग की ओर, छत्तीसगढी का कर्मकाण्ड की ओर तथा धनौती वाली का भक्ति की ओर है।

इस पन्थ की उत्पत्ति एव विकास के लिए प्रारम्भिक क्षेत्र पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, उत्कल एव मध्य प्रदेश का भूखण्ड था, जहाँ से प्रचारित होकर यह सुदूर-दक्षिण तक फैला। उत्कल प्रान्त, जो हिन्दू-धर्म का प्रधान केन्द्र था, वहाँ पर बौद्ध धर्म का भी प्रभाव अत्यधिक था।

कबीर-पन्थ के विकास की प्रारम्भिक दशा मे उसके प्रचारकों का संघर्ष बौद्धमत वालों से हुआ। अतः उस धर्म को आत्मसात् किया और अन्त मे उनके

पन्थ का सिद्धान्त

'धर्म' या 'निरजन' की शक्तिहीनता एव कबीर की शक्ति-मत्ता सिद्ध होने लगी थी। उनकी 'शून्य पुराणस्त्व' 'धर्म-गीता' की सृष्टि-रचना की कथा को कबीर-पन्थी साहित्य ने 'अनुराग-सागर' में कुछ योग के साथ लिखा। हिन्दुओं के पौराणिक

धर्म की बातें क्रमशः बौद्धो के सम्प्रदायों एवं नाथपन्थ मे परिवर्तित होकर कबीर-पन्थ में सम्मिलित हो गई । प्रजापति-धर्म फिर निरञ्जन बन गए और आद्या-शक्ति एव प्रकृति ने माया नारी का रूप धारण किया। इसी प्रकार इनकी 'चौकाविधि' आदि कर्मकाण्डी विधानो मे तान्त्रिक बातों का 'सेकोद्देशविधि' का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। इस विधि के पश्चात् 'जोतप्रसाद' की भी व्यवस्था की जाती है। इन सब विधियों की रहस्यपूर्ण व्याख्या भी की गई है, जैसे नारियल तोड़ने को अहिंसात्मक बलिदान मानना। बौद्ध-जातको की भाँति कुछ ग्रन्थ भी इस पन्थ मे दीख पडते हैं। कबीर को अवतारी प्रकट कर अनेक कथाओ की सृष्टि की गई, जो पौराणिक कथाओ की भाँति हैं। इस प्रकार का साहित्य धर्म-दासी सम्प्रदाय का है, जैसे 'सुखनिधान', 'अगरमूल', 'गुरु-माहात्म्य', 'गोरख-गोष्ठी', 'अनुरागसागर', 'निरञ्जनबोध' और 'कबीर-मन्सूर' आदि। इसके अति-रिक्त कुछ पुस्तकों मे चरित्र तथा कुछ मे 'भाष्य' रूप से दार्शनिक सिद्धान्तो की भी व्याख्या की गई है। 'कबीर-मन्सूर' के अनुसार जीव पूर्वतः सत्य रूप हसा मे था। फिर उसे आनन्द के कारण आत्म-विस्मृति हुई, जिससे कच्ची देह वाला बन गया। सूक्ष्म देह से स्थूल शरीरधारी बन गया। उनके अनुसार वासनामय जीव को आत्यन्तिक नित्य सुख की प्राप्ति 'पारख' या सद्गुरु की सहायता से ही उपलब्ध होती है। यह स्थिति 'पारखपद' सर्वोच्च है। 'बीजक' के भाष्यो के विवेचन की शैली अत्यधिक तर्कसगत एव पाण्डित्यपूर्ण है। पन्थग्रन्थी, त्रिज्या, और निर्णय सागर इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

नानक-पन्थ अथवा सिख-धर्म

हिन्दी के सन्त-कवियो द्वारा सस्थापित समस्त पन्थों या सम्प्रदायों की तुलना मे नानक-पन्थ या सिख-धर्म सर्वाधिक सजीव और सचेत पन्थ है। भारतवर्ष में जितना उत्कर्ष इस पन्थ का हुआ है, उतना कदाचित किसी भी पन्थ का नहीं। सिख-धर्म तथा खालसा सम्प्रदाय के इतिहास पर भी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है और इसलिए इसकी विकास-रेखा निधारित करने के लिए हमें अँधेरे मे भटकने की आवश्यकता नहीं है।

सिख-धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक का जन्म विक्रमीय सवत् १५२६ के वैशाख शुक्ल तृतीया (१५ अप्रैल, १४६९) को राइ भोई के तलवडी ग्राम मे हुआ। यह ग्राम लाहौर से दक्षिण-पश्चिम तीस मील की दूरी पर स्थित है। नानकजी के पिता कालूचन्द इसी ग्राम के पटवारी थे। इनकी माता का नाम तृप्ता था। नानक बाल्यावस्था से बड़े शान्त-स्वभाव और भगवद्-भक्त थे। पाँच वर्ष की अवस्था मे ही इन्होंने अपने असाधारण मेधावी होने का परिचय

दिया। बाल्यावस्था में ही इन्हे पंजाबी, संस्कृत, हिन्दी एव फारसी का अच्छा ज्ञान हो गया। धर्म एव आत्मचिन्तन की ओर इनकी प्रवृत्ति पहले ही से थी। प्रसिद्ध है कि इन्होने जयराम की सहायता से दौलत खॉ लोदी के यहॉ मोदी-खाने में कुछ दिन तक नौकरी भी की थी। इनका विवाह बाटला जिला के गुरुदासपुर-निवासी मुला की पुत्री सुलक्खनी के साथ सम्पन्न हुआ था। इस दम्पति से श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द नामक दो पुत्र हुए। यही श्रीचन्द 'उदासी सम्प्रदाय' के प्रवर्तक एवं प्रसिद्ध साधक थे। मोदीखाने में नौकरी करते समय इनका भाव परिवर्तित हो गया। संसार की विनाशशीलता देखकर इन्होने दृढता के साथ अविनाशी के चरणो में अपना मन लगाया और 'ना हिन्दू ना मुसलमान' का उपदेश देकर अपने औदार्य का परिचय दिया। मर्दाना इनका अभिन्न साथी और भक्त था। नानक भ्रमणशील व्यक्ति थे। सैयदपुर, हरद्वार, पाकपट्टन, सियालकोट, काबुल, मदीना तथा सिंहल-द्वीप आदि की यात्रा करके इन्होंने अपने आदर्शों और सिद्धान्तो का प्रचार किया। अन्तिम समय में नानक ने अपने शिष्य लहिना को अपना उत्तराधिकारी बनाया। लहिना को आसन पर बिठाकर गुरु नानक ने उसके समक्ष विधिपूर्वक नारियल और पैसे की भेंट की। लहिना के समक्ष सिर झुकाकर अन्य सिखों को भी उसे गुरु मानने का आदेश दिया।

आसन पर बिठाकर नानक ने लहिना को अगन्द नया नाम दिया। नानक देव की मृत्यु आश्विन शुक्ला १० सवत् १५९५ (सन् १५३८) को करतार पुर में हुई।

नानकजी ने समय-समय पर बहुत से पदों की रचना की। ये पद 'ग्रन्थ साहिब' में सगृहीत है। 'जपुजी' इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना है। इसमें कुल ३८ छन्द हैं। इनकी दूसरी प्रसिद्ध रचना है 'आसा दीवार'। इसी प्रकार '२४ पौडियॉ', 'रहिरास', 'सोहिला' आदि नानक की प्रसिद्ध रचनाएँ है। इनका वर्ण्य-विषय ब्रह्म, गुरु, जीव, जगत, माया, भक्ति, क्षणभगुरता, चेतावनी आदि है।

गुरु अंगद

गुरु अगद के पिता का नाम फेरू और माता का नाम दया कुँवरि था। अगद का जन्म इसी दम्पति से मिती ११ वैशाख संवत् १५६१ वि० (सन् १५०४ ई०) को हुआ। इनके पिता फीरोजपुर जिले के 'मत्ते-दी सराय' स्थान के निवासी और व्यापारी थे। अगद पूर्व नाम लहिना ने मत्ते-दी-सराय की निवासिनी खीवी से विवाह किया। लहिना (अगद) खीवी दम्पति से दातू और दासू नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। अमृतसर जिले के तरनतारन तहसील के खड्डूर ग्राम के ये निवासी

सक्षेपतः कबीर के अनुसार धर्म का स्वरूप सत्य के प्रति किसी व्यक्ति की पूर्ण आस्था, उसके साथ तादात्म्य की मनोवृत्ति तथा उसी के आदर्शों पर निश्चित व्यवहार की प्रवृत्ति मे भी देखा जा सकता है। कबीर की क्रान्ति बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी थी। उन्हे परलोक-जैसे काल्पनिक प्रदेश के प्रति विश्वास न था। वे लोक को ही अपने आदर्शों एव प्रभाव द्वारा स्वर्ग बना देने मे विश्वास रखते थे। वे कपट, पाखड, जाल एव अत्याचार के घोर विरोधी थे और शुद्ध-हृदय, साहसी, स्पष्टोक्ति एवं प्रेम के प्रबल समर्थक भी थे। इनका 'हरिपद' परमपद स्थान-विशेष का बोधक न होकर 'स्थिति-विशेष' का था तथा 'सन्त' अथवा 'चौथा पद' की सार्थकता भी तभी सम्भव है, जब उसके द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति ब्रह्म एव सत्य के अस्तित्व का पूर्णतः अनुभव कर चुकने वाला हो जाए, 'अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सतयेन विदुर्बुधाः'।

कबीर साहब के समसामयिक सन्त (सं० १५००-१५५०)

कबीर के आविर्भाव-काल में धार्मिक विचारधारा पर अनेक प्रभाव पडते जा रहे थे, जिनसे अनेक महापुरुष प्रभावित हुए। ऐसे ही महान् पुरुषो मे सर्वप्रसिद्ध स्वामि रामानन्द थे। सन्तसेन नाई, पीपा, रैदास तथा धन्ना भी आपके शिष्य कहे जाते हैं। इन सबकी विचारधारा लगभग एक समान ही प्रवाहित हुई थी। ये सभी असाम्प्रदायिक एव उदार-हृदय, स्वच्छन्द आध्यात्मिक व्यक्ति थे। कमाल भी इन्हीं में से एक थे। इन्होंने कोई नवीन पन्थ चलाने का प्रयास नहीं किया वरन् सार्वभौम धर्म के ही प्रचारक थे, फिर भी इनके नाम से पन्थो की सृष्टि हो गई। ये पूर्ण सन्यासी कभी नही हुए, प्रत्युत परिवार मे रहकर सरल जीवन बिताया।

कबीर साहब तथा उनके उक्त समसामयिक सन्तो का कोई ऐसा प्रामाणिक विवरण नहीं मिलता, जिसके अनुसार उपर्युक्त सन्तों का काल-क्रम निश्चित किया जा सके, फिर भी उनकी उपलब्ध रचनाओ तथा अनुश्रुतियो के आधार पर उनके आविर्भाव-काल के विषय मे कुछ अनुमान किया जा सकता है।

स्वामी रामानन्द

उत्तर भारत की सन्त-परम्परा में आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपके चरित्र-बल एव असाधारण व्यक्तित्व से समकालीन हिन्दू समाज का वातावरण प्रभावित हो उठा, और आप प्रभावशाली पथ-प्रदर्शक तथा विशिष्ट सुधारक प्रमाणित हुए। लोक-सग्रह की दृष्टि से सयम-शील साधुओ की एक टोली संगठित कर, उन्हें 'वैरागी' नाम दे सर्वत्र भ्रमण की ओर प्रेरित किया। आपका जन्म 'अगस्त्य सहिता' के आधार

पर स० १३५६ मे माना जाता है। अध्ययनार्थ काशी मे जाकर आप वहाँ विशिष्टाद्वैती, स्वामी राघवानन्द के शिष्य हो गए, तत्पश्चात् आपने भिन्न मत 'रामानन्दी सम्प्रदाय' से प्रचारित किया। आपके गुरु स्वामी राघवानन्द भक्ति-आन्दोलन के नेता थे। आप योगविद्या में पारंगत थे। सन्त नाभादास के समकालीन तथा वैष्णवदास के चेले मिट्ठीलाल ने भी अपने 'गुरु-प्रकारी' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि—

श्री अवधूत वेप को धारे, राघवानन्द सोई।
तिनके रामानन्द जग जाने, कलि कल्यान मई॥[१]

डॉ० वडथ्वाल ने आपके साधना-मार्ग को योग और प्रेम का समन्वित रूप स्वीकार किया है।[२] आपकी पुस्तिका 'सिद्धान्त-पचमात्रा' देखने पर यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन वातावरण नाथ-योगी सम्प्रदाय से प्रभावित था।

रामानन्द के शिष्य १२ कहे जाते है। प्रथम ५ सेन, कबीर, पीपा, रविदास एव धन्ना तथा शेप ७ मे अनन्तानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, योगानन्द, सुखानन्द, भवानन्द एवं गालवानन्द। इनमे से प्रथम ५ की सभी वातों पर विचार करते हुए, यही अनुमान लगाया जाता है कि किसी ने भी इन्हें स्पष्टतः अपना गुरु स्वीकार नहीं किया है। रामानन्द की कुछ रचनाएँ संस्कृत एवं कुछ हिन्दी में हैं। डॉ० फर्कुहर का कहना है कि आपके मत का मूल आधार वैष्णव सम्प्रदायो मे निहित न होकर 'अध्यात्म रामायण' में है। रामानन्दी सम्प्रदाय आज भी विद्यमान है। आपके दार्शनिक-सिद्धान्तों के आधार विशिष्टाद्वैत की मूल वातों में ही निहित हैं। अतएव रामानुजीय 'श्री सम्प्रदाय' एव रामानन्दीय 'रामावत-सम्प्रदाय' मे कोई विशेप अन्तर नहीं मालूम पड़ता। परन्तु कई प्रकार के भेद भी हैं, यथा नारायण के स्थान पर 'राम' को उपास्य देव मानना, अर्चन-विधियों के वाहुल्य के स्थान पर भक्त-रसाप्लावित गुणगान पर विशेष ध्यान देना। अतः 'रामावत-सम्प्रदाय' का लगाव स्मार्त्त धर्म की ओर भी रहा करता है। इसका प्रचार सर्वत्र हुआ है। इसके नियम सरल एव सुगम है, मूल मन्त्र 'राम' हैं तथा इष्टदेव राम है, जो निर्गुण होते हुए भी भक्त-हित नर देह धारण करते है।

आप के सम्बन्ध मे दो मत प्रचलित है। प्रथम के अनुसार (समय स० १५०५) वीदर के राजा के आप सेवक थे। प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन,

१ योग-प्रवाह—डॉ० वडथ्वाल, पृष्ठ २, ३।
२ वही, पृष्ठ ८।

सेन नाई

विट्ठलनाथ के स्तुतिकर्ता और वारकरी-भक्त प्रतीत होते है। दूसरे के अनुसार आप बान्धवगढ-नरेश के सेवक तथा रामानन्द के शिष्य कहे जाते हैं। तृतीय मत के आधार पर सेनजी बान्धवगढ के ही निवासी थे, तथा आप रामानन्द के समकालीन सिद्ध नहीं होते। आप पूर्व-काल मे वारकरी-सम्प्रदाय से प्रभावित रहे, तत्पश्चात् पर्यटन करते समय रामानन्द के दर्शन एव नामदेव से प्रभावित हुए। आपके नाम पर सेन-पन्थ का प्रचलित होना भी प्रसिद्ध है।

पीपा

फर्कुहर के अनुसार आपका जन्म सन् १४२५ मे हुआ। किन्तु कनिंघम ने गागरौन राज्य की वशावली के आधार पर इनका समय सन् १३६० और १३८५ अर्थात् सं० १४१७ तथा १४४२ के बीच ठहराने का प्रयत्न किया है। इनकी अपनी दो रचनाओं[1] से यह प्रतीत होता है कि ये कबीर साहब के बड़े प्रशसक थे। आप कबीर को अपना गुरु मानते थे। पीपाजी साधुसेवी एव सच्चे भक्त थे। स्वामी रामानन्द से प्रभावित होकर आप विरक्त हो गए। आपकी द्वारका-यात्रा का स्मारक रूप 'पीपावट' का बृहत् मठ प्रसिद्ध है। आपकी रचनाओंका संग्रह 'श्री पीपाजी की बानी' है, जिसमे 'सन्तमत' के सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं।

रैदास

आप ढोरों का व्यवसाय करते हुए भी माया का परित्याग कर, साधु-सग कर भगवद्दर्शन मे सफल हुए। आप सरल जीवन-यापन करनेवाले, निस्पृह एव बाल्यावस्था से ही 'राम-जानकी' के उपासक थे। आपके अनुयायी महाराष्ट्र एवं राजपूताना मे भी पाए जाते हैं। मीरा बाई ने अपनी रचनाओ मे आपको गुरु भी कहा है। प्रिया-दासजी ने आपकी शिष्या का नाम 'झालीरानी' भी बताया है, जिन्हे कुछ लोग महाराणा सागा की धर्मपत्नी भी कहते हैं। अतः आपका समय (स० १५३९-१५८४) कहा जा सकता है। आपकी रचनाओं का सग्रह 'रैदासजी की बानी' नाम से प्रकाशित हुआ है। उसमें फारसी-मिश्रित भाषा का प्रयोग किया गया है। आपके सिद्धान्त उच्च एव उदार थे। आपकी निष्ठा कोरे ज्ञान की अपेक्षा सत्यानुभूति में विशेष थी। राम का परिचय प्राप्त करने के बाद ही 'दुबिधा' नष्ट हो जाती है। तभी 'परम वैराग' की स्थिति प्राप्त होती है, यह आपका निश्चय था। उस सत्य का परिचय रैदास ने अनुपम एव अनिर्वचनीय रूप में दिया है। साकेतिक रूप में आपने प्रेम भगति का वास्तविक मूलाधार अहकार

१. श्री पीपाजी की बानी में सगृहीत।

की निवृत्ति बताया है। कबीर ने आपको सन्तमत के अनुसार 'सत्यपथ-दिग्दर्शक' कहा है। आपके अष्टांगसाधन (१) गृह (२) सेवा (३) सन्त (४) नाम (५) ध्यान (६) प्रणति (७) प्रेम (८) विलय (समाधि) कहे जाते हैं। आपकी शिष्य परम्परा में अन्य कोई श्रेष्ठ साधक अनुपलब्ध है। आपके नाम पर ही 'रैदासी' सम्प्रदाय प्रचलित हुआ।

सन्त कमाल

कबीर के औरस पुत्र एवं शिष्य थे। कमाल सन्त-मत के प्रचारार्थ दक्षिण की ओर गये थे। कमाल को मुसलमान बताया है और उनकी भाषा-शैली तथा 'मुरशिद', 'मौला' आदि जैसे शब्दों के अधिक प्रयोग से भी यही सिद्ध होता है। सम्भव है ये सूफियों के सम्पर्क मे भी कुछ दिन तक रह चुके हों और इनके विचारों पर उनका भी प्रभाव पर्याप्त रूप मे पड़ा हो। 'बूड़ा बंस कबीर का जनमा पूत कमाल' इस कथन को लेकर अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। आपकी विचारधारा कबीर से साम्य रखती है।

धन्ना भगत

आपका जन्मकाल सं० १४७२ माना जाता है। इन्होंने अपने को जाट जाति का तथा रैदास एवं सेन से प्रभावित कहा है। आपका व्यवसाय भगवत् प्रताप के बल पर कृषि करना था। आपके चार पद 'आदिग्रंथ' में संगृहीत हैं। आपके सिद्धान्तानुसार भगवत् कृपा से ज्ञान के प्रकाश से मन एकनिष्ठ हो, प्रेम-भगति का अधिकारी बन, मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। आपमें सरल-हृदय तथा सच्चा प्रभु-विश्वास दृष्टिगत होता है।

पन्थ-निर्माण का सूत्रपात (सं० १५५०-१६००)

किसी मत-विशेष के प्रवर्तक को अपने सिद्धान्त-प्रचार की बलवती इच्छा के कारण अनुयायियों को आवश्यक उपदेश देना पड़ता है और योग्य उत्तराधिकारी की नियुक्ति भी करनी पड़ती है। परन्तु कबीर साहब के देहावसान के पश्चात् ही कबीर-पन्थ विशेष अस्तित्व मे आया। इस पन्थ के साधु सुव्यवस्थित संस्था मे न रहकर पर्यटन-मात्र किया करते थे। पर 'नानक-पन्थ' के मूल प्रवर्तक गुरु नानक देव ने 'अंगद' को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और यह पन्थ सिख नामक जाति-विशेष के रूप में परिणत हो गया। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे सन्त भी हुए जिन्होंने सन्तमत से प्रभावित हो उनके भाव-साम्यों को अपनी रचनाओं मे प्रकट किया। इनमें से सूर, मीरा तथा जायसी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(सन् १६४४) को गुरु हरगोविन्द का निधन हुआ। मृत्यु से कुछ समय पूर्व उन्होंने अपने पौत्र हरराय को गद्दी पर बिठा दिया था।

गुरु हरराय

गुरु हरराय बाल्यावस्था से ही भगवद्-भक्त और कोमल चित्त वाले व्यक्ति थे। ये औरंगजेब के समकालीन थे। एक बार औरगजेब ने इन्हे अपने दरबार में तलब किया। कारणवश ये स्वय तो न जा सके पर अपने पुत्र रामराय को भेज दिया। रामराय से औरगजेब ने प्रश्न किया कि 'गुरु ग्रन्थ साहिब' मे मुसलमान शब्द का प्रयोग इस्लाम के लिए अपमानजनक है या नही। रामराय ने कहा कि 'मुसलमान' शब्द के स्थान पर 'बेईमान' होना चाहिए। इस कथन से औरङ्गजेब तो सन्तुष्ट हो गया परन्तु गुरु हरराय बडे दुखी और असन्तुष्ट हुए। उन्होने रामराय को उत्तराधिकार से वचित करके हरकृष्णराय को गद्दी दी। कार्तिक कृष्ण ७ सवत् १७१८ (सन् १६६१) को गुरु हरराय का निधन हुआ।

गुरु हरकृष्णराय

गुरु हरकृष्णराय का जन्म गुरु हरराय की धर्मपत्नी कृष्णकुँवर से श्रावण शुक्ल ९, सवत् १७१३ (सन् १६५६) को हुआ। पॉच वर्ष एव तीन मास की अल्पावस्था मे इन्हे गद्दी पर आसीन किया गया। चैत्र का मास था। औरगजेब के आमन्त्रण पर राजा जयसिंह के अनुरोध और आश्वासन पर औरजेब से मिलने के लिए दिल्ली जा रहे थे। मार्ग मे यात्रा के चतुर्थ दिवस पर ज्वर का भीषण आक्रमण हुआ। अन्त मे चैत्र शुक्ल १४, सवत् १७२१ (सन् १६६४) को सात वर्ष की अवस्था मे इनका देहान्त हो गया।

गुरु तेगबहादुर

गुरु तेगबहादुर चैत्र शुक्ल १४, स० १७७२ (२० मार्च, १६६५) को गुरु-गद्दी पर बैठे। गुरु-गद्दी पर इनके बैठने का हाल सुनकर इनके भाई करिमल ईर्ष्या-द्वेष से सन्तप्त हो उठे और उन्होने मसदों को भेजकर इनका वध करा देने का प्रयत्न किया। मसदों ने प्रयत्न तो किया पर असफल रहे। सोढ़ी परिवार के खत्री भी इनसे द्वेष रखने के कारण इन्हे सदैव सताया करते थे, अतः आषाढ स० १७२२ (सन् १६६५) को कीरतपुर का परित्याग करके ये आनन्दपुर आ गए। यहॉ भी धीरमल गुरु तेगबहादुर के पीछे पड़े रहे। अतः ये भ्रमण के लिए निकल पड़े। इन्होने थानेश्वर, प्रयाग, मुँगेर, मालदा और पटना का भ्रमण किया। कडा में ये संत मूलकदास से मिले थे। पौष शुक्ल ७, सवत् १७२३ (१६६६ ई०) को पटना में इनके पुत्र उत्पन्न हुआ।

कालान्तर में औरगजेब द्वारा गुरु तेगबहादुर बन्दी बनाए गये और भीषण

यातनाओं को सहन करते हुए इन्होंने अगहन शुक्ल ५, सवत् १७३२ (सन् १६७५) को अपना शरीर परित्याग किया। गुरु तेगबहादुर वीर, साहसी और दयालु प्रकृति के व्यक्ति थे। इनकी सुन्दर रचनाएँ 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में उपलब्ध हैं।

गुरु गोविन्दसिंह की बाल्यावस्था पटना में व्यतीत हुई। कालान्तर में ये अपनी माता के साथ आनन्दपुर पहुँचे। यात्रा में मिर्जापुर, बनारस, अयोध्या, लखनऊ आदि प्रमुख नगरों को देखा। बाल्यावस्था से ही गुरु गोविन्द सिंह इन्हें शारीरिक श्रम, व्यायाम, सन्तरण, मल्लयुद्ध, लक्ष्य-सन्धान, आखेट तथा अन्य साहस से परिपूर्ण कार्यों में विशेष आनन्द आता था। आनन्दपुर पहुँचने पर इन्हें अपनी रुचि के अनुसार बड़ा अनुकूल वातावरण और समाज मिला। गुरु-गद्दी पर बैठने के अनन्तर भी इनकी यह प्रवृत्ति बराबर बनी रही। इनकी प्रसिद्धि और ख्याति का इतना प्रसार हुआ कि आसाम के राजा राम का द्वादशवर्षीय पुत्र रतनराय इनसे मिलने के लिए आनन्दपुर आया और साथ में बहुत-सी भेंट लाया। पिता की अकाल मृत्यु और भीषण यातनाओं का विवरण सुनकर गुरु गोविन्दसिंह में प्रतिकार की भावना जाग्रत हो उठी और आप तात्कालीन शासकों को हानि पहुँचाने के लिए सदैव तत्पर रहने लगे। गुरु गोविन्दसिंह ने देहरादून से ३० मील की दूरी पर पाँटा नामक दुर्ग बनवाया। माघ सुदी ४, सवत् १७४३ (१६८७ ई०) को इनकी पत्नी सुन्दरी ने एक पुत्र को जन्म दिया। बाद में इसका अजीतसिंह नाम रखा गया। इनकी दूसरी पत्नी ने चैत्र कृष्ण ७, संवत् १७४७ को जोरावरसिंह तथा माघ शुक्ल १, सवत् १७५३ (सन् १६९७) को जुझारसिंह को जन्म दिया। जुझारसिंह के जन्म पर आचार्य केशवदेव के पुत्र कुँवर बधाई देने आये। इनका चतुर्थ पुत्र फतेहसिंह जिता से फाल्गुन कृष्ण ११, सवत् १७५५ (सन् १६९९) को उत्पन्न हुआ। गुरु गोविन्द सिंह ने सिक्खों में वीरता, प्रतिशोध और साहस की भावना का सचार कर दिया। इन्होंने सिक्खों का सगठन करके इनकी जाति-पाँति की भावना विनष्ट करके उन्हें धार्मिक एकता के सूत्र में निबद्ध कर दिया। गोविन्दसिंहजी ने ही खालसा-पन्थियों के लिए कटार, कंघा, कच्छा, केश एवं कड़ा पहनना अनिवार्य कर दिया तथा 'वाह गुरुजी का खालसा' तथा 'वाह गुरुजी की फतेह' को महामन्त्र बताया। यह प्रथम दीक्षा वैशाख कृष्ण १, सं० १७५६ को सम्पन्न हुई। औरंगजेब की फौजों से इनका कई बार सग्राम एवं संघर्ष हुआ। इनके दो पुत्रों—जुझारसिंह (अवस्था ९ वर्ष) तथा फतेहसिंह (अवस्था ७ वर्ष) को

औरगजेब ने पूस कृष्ण १३, संवत् १७६२ (सन् १७०५) को दीवार मे इसलिए चुनवा दिया कि उन्होने इस्लाम धर्म अगीकार नहीं किया। शेप दो पुत्र—अजीतसिंह तथा जोरावरसिंह युद्ध मे मारे गए।

गुरु गोविन्दसिंह ने अपने नश्वर शरीर को कार्तिक सुदी ५, सवत् १७६५ (सन् १७०८) को छोडा। इनका निधन नदेड मे हुआ था। इनकी रचनाओ का सग्रह 'दसवॉ पातसाह का ग्रन्थ' नाम से प्रसिद्ध है। सन् १७३४ मे भाई मनीसिह ने इसे प्रस्तुत किया था। गुरु गोविन्दसिह विद्वान, योद्धा, नीतिज्ञ और साहसी थे। हिन्दू-धर्म की रक्षा और 'खालसा सम्प्रदाय' के विकास मे इन्होने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

वीर बन्दा बहादुर

इनका पूर्वनाम लक्ष्मण देव था। इनका जन्म कार्तिक शुक्ल ११, सवत् १७२७ (सन् १६७०) में राजोरी ग्राम में एक काश्मीरी खत्री के घर हुआ। युवावस्था मे ये बडे क्रूर और हिंसात्मक प्रकृति के व्यक्ति थे। श्रावण स० १७६४ में गुरु गोविन्दसिंह से इनकी भेंट हुई और अत्यधिक प्रभावित होने के कारण वे उनके शिष्य बन गए। गुरु गोविन्दसिंह ने इन्हें खालसा बनाकर गुरुबख्शसिंह नाम दिया। आगे चलकर ये बन्दा नाम से विख्यात हुए। मुगल-सेना से इन्होंने कई बार सफलता के साथ मोर्चा लिया और उनके दॉत खट्टे किये। दशम गुरु गोविन्द सिंह के द्वारा प्रदर्शित पथ पर ये बहुत समय तक चलते रहे। इन्होंने अपनी करवाल से मुसलमानो को आतकित कर दिया। अन्त मे अह ने इनके मस्तिष्क मे स्थान कर लिया। गुरु गोविन्दसिंह की आज्ञा का उल्लघन कर इन्होने मण्डी-नरेश की सुन्दरी पुत्री से विवाह कर लिया। इन्होंने 'वाह गुरु की फतेह' मन्त्र को बदलकर 'बन्दा की दर्शनी फतेह' कर दिया, अमृत को हटाकर अपना चरणोदक प्रचलित किया। यह सब देखकर सिख बड़े रुष्ट हुए। उन्होने इन्हे अपदस्थ कर दिया। यहीं से बन्दा का पतन प्रारम्भ हुआ। पारस्परिक फूट और वैमनस्य का लाभ मुसलमानो ने उठाया। गुरुदासपुर की चार मास की लडाई में सिख बुरी तरह पराजित हुए। सं० १७७६ मे अब्दुल समदखॉं तौरानी ने बन्दा को बन्दी बनाया और फर्रुखसियर के पास दिल्ली पहुँचा दिया। वहॉं बडी क्रूरता, बर्बरता और निर्दयता के साथ इनका अन्त किया गया। वीर बन्दा के अधिकाश अनुयायी तलवार के घाट उतारे गए। उनके शेष अनुयायी 'बन्दई खालसा' कहलाए।

सासारिक विषमताओं के मध्य समन्वय का सन्देश लाकर पूर्णतया वैषम्य को दूर करने की चेष्टा आदि गुरु नानक देव का धार्मिक सिख-सम्प्रदाय क्रमशः

सिख-धर्म अथवा खालसा-सम्प्रदाय

गुरु गोविन्दसिंह के नेतृत्व में आकर 'खालसा' रूप में परिणत हो गया। सिख-धर्म कोरा सैद्धान्तिक एवं आदर्शवादी मत का कभी नहीं रहा और न ऐसा होने पर वह कभी सन्त मत के अन्तर्गत समझा ही जा सकता था। यह दार्शनिकों का मतवाद न होकर सर्वसाधारणार्थ शुद्ध व्यावहारिक धर्म ही रहा। नानक के मत का वास्तविक रूप निर्धारित करते समय आपको हिन्दू, मुसलमान एवं अन्य धर्म का अनुयायी न मानकर विचार-स्वातन्त्र्य का ही परिपोषक कहा जा सकता है। आपके अनुसार धार्मिक जीवन एक साधना-प्रधान शिष्य का जीवन है। अतः वह कभी पूर्ण या अवतारी नहीं हो सकता। 'जपुजी' में बताया गया है कि साधक अपने 'अहं' भाव 'हंउ मैं' को पन्थ में आते ही भूल जाता है और व्यक्तित्व समष्टि के साथ भेद का अनुभव नहीं करता तथा सभी को किसी व्यापक नियम 'हुकुम' के प्रति समर्पित समझता है। आपका मूल दार्शनिक सिद्धान्त उस सर्वात्मवाद की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार उस नित्य, निर्विशेष, एकमात्र सत्य एवं व्यावहारिक असीम सत्ता में कोई अन्तर नहीं। उस परमात्मा का स्वरूप निश्चित नहीं, वही सर्वत्र है, वही रसरूप है, वही अनुभवकर्ता है। 'जपु जी' में परमात्मा को ऐसी अन्विति के रूप में होना बतलाया है, जिसमें उस निर्विशेष सत्य के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व का समन्वय पाया जाए। उस नित्य वस्तु के प्रति आत्मसमर्पण कर उसके दिव्य गुणों वाले अलौकिक व्यक्तित्व को अपने आदर्शों का परम प्रतीक समझना चाहिए। अन्त में नानकदेव निश्चित साधना की रूपरेखा में 'धरम खण्ड', 'ज्ञान खण्ड', 'करम खण्ड' और 'सच खण्ड' नामक उत्तरोत्तर चार सीढ़ियों को उपस्थित करते हैं। इस प्रकार अन्तिम स्थिति पर पहुँचकर मनुष्य 'पंच' रूप कहाकर आदर्श बन जाता है। उक्त सर्वात्मरूप 'ओंकार' नामक परमात्मा के व्यक्तित्व की धारणा हेतु ही प्रार्थना को महत्त्व दिया गया है। इसका वास्तविक उद्देश्य केवल याचना ही नहीं अपितु भक्तिभाव-प्रदर्शन तथा उसके साथ तादात्म्यानुभव और अपनी प्रवृत्तियों को शक्तिप्रदान करना भी है। अन्य साधनाओं के अन्तर्गत मनोमारण के लिए साधन एवं साध्य भी 'नामस्मरण' तथा 'ईश-प्रार्थना' बताया गया है। 'सिख-धर्म' में कहीं-कहीं योगसाधना का भी उल्लेख किया गया है। इन साधनों के परिपालन हेतु तथा परमात्मा का साक्षात्कार पाने हेतु 'गुरु' का माध्यम आवश्यक बताया गया है। 'आदि ग्रन्थ' को भी 'गुरु ग्रन्थ साहिब' कहकर पूजित किया गया है। धर्मानुसार आदर्श एवं व्यवहार दोनों का सामंजस्य आवश्यकीय बताया है। यही इन सिख-गुरुओं ने अपने

थे। लहिना शक्ति के उपासक थे। परन्तु जोधा नामक सिख द्वारा गायी 'आसा दी वार' की पंक्ति को सुनकर ये नानक की विचारधारा से बहुत प्रभावित हुए। करतारपुर पहुँचकर इन्होंने अपनी लगन, भक्ति और एकाग्रता का अनेक बार परिचय दिया और अततोगत्वा नानक के कृपापात्र बने। गुरु नानक के देहावसान से अगद को वियोग का बड़ा गम्भीर अनुभव हुआ और बहुत समय तक इन्होने एकान्त-साधना की। शेरशाह से पराजित पश्चिम की ओर पलायन करने में विवश शाहंशाह हुमायूँ से भी गुरु अगद एक बार सम्मानित हुए। अगद के ही आशीर्वाद से हुमायूँ युद्ध मे विजयी हुआ। अमरू अथवा अगर-दास इनके सर्वप्रिय शिष्य थे। चैत्र शुक्ल ३ सवत् १६०९ (सन् १५५२ ई०) को गुरु अगद ने अपने नश्वर शरीर का विसर्जन किया।

गुरु अगद ने सर्वप्रथम गुरु नानक की रचनाओं को एक नवीन लिपि गुरुमुखी मे लिखाना प्रारम्भ किया था। इस लिपि का निर्माण शारदा, लहडी और देवनागरी अक्षरो के आधार पर किया गया था। इसी लिपि मे गुरुओं की जीवनी और रचनाओ का संग्रह किया गया। सवत् १६०१ में 'जन्मसाखी भाई बाले' की रचना हुई। गुरु अगद की रचनाएँ 'ग्रन्थ साहिब' के महला : २ मे सगृहीत है।

गुरु अमरदास

अमरदास के पिता तेजभान अमृतसर के निकटस्थ वसरका नामक ग्राम के निवासी थे। तेजभान की स्त्री वरवत कुँवरि से चार पुत्र उत्पन्न हुए जिनमे अमरदास सबसे बड़े थे। गुरु अमरदास का जन्म वैशाख शुक्ल १४ सवत् १५३६ (सन् १४७९) को हुआ। इनके परिवार का पैतृक व्यवसाय खेती एवं व्यापार था। तेइस वर्ष की अवस्था मे इनका विवाह मनसादेवी के साथ हुआ। इस पत्नी से दो पुत्र—मोहरी और मोहक तथा दो पुत्रियाँ रानी तथा भानी उत्पन्न हुई। पहले ये वैष्णव-भक्ति मे विश्वास रखते थे। अतः नित्यप्रति शालिग्राम की पूजा करते थे। एक दिन उन्होने अपने भतीजे की पत्नी बीबी—अमरू (गुरु अगद की पुत्री) के सुरीले कण्ठ से प्रस्फुटित गुरु नानक-विरचित एक पद सुना। पद की कतिपय पक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

> करणी कागद मनु मसवाणी, बुरा भला दुइ लेख पये।
> जिउ जिउ किरतु चलाए तिउ चलिए, तउ गुण नाही अंतह रे ॥१॥
> चित चेतसि की नहीं बावरीआ, हरि बिसरत तेरे गुण गलिया ॥
> (रागुमारू, पद २, पृ० ९९१-२)

इस पद ने गुरु अमरदास पर सम्मोहक प्रभाव डाला। बीबी अमरू के

साथ जाकर गुरु अगद से उन्होंने भेंट की और उन्हीं के पास शिष्य के समान रहने लगे। कालान्तर में अमरदास, गुरु अगद के प्रिय और विश्वासपात्र शिष्य बन गए। गुरु अगद की गद्दी प्राप्त करने के समय अमरदास की अवस्था ७३ वर्ष की हो चुकी थी। ये अधिकतर गोविन्दवाल (गोइन्दवाल) में रहा करते थे। गुरु अगद के पुत्र दातू द्वारा प्रताड़ित और प्रपीड़ित होने के कारण जीवन के अन्तिम वर्षों में ये गोइन्दवाल को छोड़कर अपने जन्मस्थान वसरका मे निवास करने लगे। दातू ने एक बार इन्हे गद्दी से अपदस्थ करके स्वय अपने गुरु होने की घोषणा कर दी। कुछ समय के बाद, अनुयायियो के आग्रह से, गुरु अमरदास पुनः गोइन्दवाल में आकर गद्दी पर रहकर, गुरुवत आचरण करते हुए, भगवद्-भजन मे तल्लीन रहने लगे। ये समानता के बड़े प्रतिपादक थे। लगर और कीर्तन में सबको एक पक्ति मे बैठना पड़ता था। कहा जाता है कि एक बार जब शहंशाह अकबर इनके दर्शनार्थ आये तो उन्हे भी एक पंक्ति में एक भाव से बैठकर उपदेश सुनना पड़ा। प्रसिद्ध है कि एक बार अकबर ने गुरु अमरदास को अपने यहाँ आमन्त्रित किया, पर वे इतने वृद्ध थे कि यात्रा का कष्ट सहन करने के लिए उद्यत नहीं हुए।

गुरु अमरदास ने अपनी पुत्री मानी का विवाह लाहौर नगर के चूनामण्डी मुहल्ले के निवासी हरिदास खत्री के पुत्र जेठा के साथ किया। जेठा बाल्यावस्था से सतसग-प्रेमी और भगवद्-भक्त था। गुरु अमरदास के संसर्ग से उसकी यह प्रवृत्ति द्विगुणित हो गई। आगे चलकर यही जेठा गुरु अमरदास की गद्दी पर बैठकर गुरु रामदास के नाम से विख्यात हुआ। कहा जाता है कि जब वृद्धावस्था के कारण गुरु अमरदास अकबर के पास न जा सके, तो उन्होने जेठा को भेज दिया। जेठा की निष्ठा, साधना और भगवद्-भक्ति से अकबर बहुत प्रभावित हुआ।

गुरु अमरदास की महाप्रस्थान-तिथि है भाद्र पूर्णिमा, सवत् १६३१। इनकी रचनाओं मे 'आनन्द' सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

गुरु रामदास

गुरु रामदास का जन्म मगलवार, मिती २, कार्तिक कृष्णपक्ष, संवत् १५९१ (१५३४ ई०) को दयाकुँवरि के गर्भ से हुआ। गुरु रामदास ने अपनी साधना का केन्द्र सन्तोपसर बनाया। यह स्थान गोइन्दवाल से २५ मील की दूरी पर है। इन्होंने साम्प्रदायिक आदर्शों के प्रचार के लिए अनेक मन्सदों की नियुक्ति की। इनके तीन पुत्र हुए, जिनके नाम थे पृथीचन्द, महादेव तथा अर्जुन। इनमें से प्रथम दो तुच्छ प्रकृति के थे, परन्तु अर्जुन बड़े उदार और भक्त थे। इन तीनो के सम्बन्ध मे

अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। अर्जुन की योग्यता से सन्तुष्ट होकर गुरु रामदास ने उसी को अपना उत्तराधिकारी निर्धारित किया। गुरु रामदास का महाप्रयाण भाद्र शुक्ल ३, संवत् १६३८ (१५८१ ई०) को हुआ।

गुरु रामदास की सभी रचनाएँ 'ग्रन्थ साहिब' में संगृहीत हैं। उनकी रचनाएँ भिन्न रागों में विभाजित हैं। 'महला ४' में उनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं।

रामदास एवं भानी दम्पति से अर्जुनदेव का जन्म वैशाख कृष्ण ७ सं० १६२० (१५६३ ई०) को गोइन्दवाल में हुआ। प्रसिद्ध है कि गुरु अमरदास (इनके नाना) इन्हें बहुत मानते और चाहते थे। बाल्यावस्था से ही

गुरु अर्जुनदेव

ये भगवद् भक्त और सत्संग-प्रेमी थे। इनके कोमल हृदय पर गुरु अमरदास का व्यापक और गम्भीर प्रभाव पड़ा। इनका विवाह जिला जालंधर के मेओ ग्राम के निवासी किशनचन्द की पुत्री गंगा से सम्पन्न हुआ। गुरु रामदास के निधन पर इनके नाना मोहरी ने इन्हें उत्तराधिकारी मानते हुए परम्परा के रूप में एक साफा अर्पित किया। इसका विरोध इनके सबसे बड़े भाई प्रिथिया ने किया। अर्जुनदेव ने सहर्ष उस कपड़े को प्रिथिया के हवाले कर दिया और स्वयं गोइन्दवाल से हटकर अमृतसर चले आए। गुरु अर्जुन की पत्नी गंगा के गर्भ से हरगोविन्द बालक का जन्म हुआ जो आगे चलकर एक प्रसिद्ध गुरु बना। गुरु अर्जुनदेव ने अपने से पूर्व आविर्भूत समस्त गुरुओं की रचनाओं को संकलित कराया। इस कार्य में प्रिथिया ने बड़ी बाधा डाली। अतः प्रामाणिकता सुरक्षित रखने के लिए ये स्वतः गुरु अमरदास के ज्येष्ठ पुत्र मोहन के पास गोइन्दवाल गये और गुरुओं की रचनाएँ माँगकर ले आए। यह संग्रह भाई गुरुदास द्वारा संवत् १६६१ (सन् १६०४) के भाद्र मास की प्रथम तिथि को प्रस्तुत हुआ। ग्रन्थ के अन्त में 'रागमाला' भी दी हुई है। हरगोविन्द की विवाह-समस्या को लेकर चन्दूशाह और गुरु अर्जुन में बड़ा मतभेद हो गया। इसके फलस्वरूप चन्दूशाह ने गुरु के विरुद्ध अनेक प्रकार के षड्यंत्रों की रचना की। अकबर उदार शासक था, अतः चन्दूशाह की कुछ न चली। अकबर की मृत्यु के बाद जहाँगीर ने चन्दूशाह और प्रिथिया के संकेत पर इन्हें भीषण यातनाएँ दीं। यातनाओं के फलस्वरूप इनका पार्थिव शरीर क्षत-विक्षत हो गया। अन्त में ज्येष्ठ शुक्ल ४ संवत् १६६३ (जून, १६०६ ई०) को ४३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने रावी के निकट शरीर परित्याग किया और अपने अनन्तर हरगोविन्द को गुरु मानने का आदेश दिया।

गुरु अर्जुनदेव की सर्वप्रसिद्ध रचना है 'सुखमनी'। इसमें दस-दस पंक्तियों की २४ अष्टपदियाँ संगृहीत हैं। इसका पाठ प्रातःकाल 'जपुजी' के पाठ के

अनन्तर किया जाता है। इनके अतिरिक्त 'बावन अखरी', 'बारामासा' तथा भिन्न-भिन्न रागों में विरचित कई एक स्फुट पद 'महला ५' के नीचे दिये गए हैं। इनकी संख्या ६००० से भी अधिक है। सिख धर्म और सिख जाति के उत्थान, प्रचार और समृद्धि के लिए अर्जुनदेव का योगदान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और उपादेय है।

गुरु हरगोविन्द का जन्म आषाढ़ कृष्ण ६, संवत् १६५२ (१४ जून, १५९५ ई०) को वडाली ग्राम मे गंगा बीबी के गर्भ से हुआ। गुरु अर्जुनदेव के समय तक सिख गुरुओ और अनुयायियो का ध्यान आध्यात्मिक साधना और सिख-मत के प्रचार तक ही केन्द्रित रहा। परन्तु देश की परिवर्तनशील परिस्थितियो और तत्कालीन शासकों की पक्षपातपूर्ण नीति ने इन सिखों को सचेत रहकर साधना करने के लिए विवश कर दिया। गुरु अर्जुनदेव के साथ घटित अमानुषिक घटनाओं ने सिखों मे भीषण प्रतिक्रिया समुत्पन्न कर दी। सरल एवं सहज साधना में कटुता का सञ्चार हो गया।

गुरु हरगोविन्द

गुरु हरगोविन्द के पिता की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न हो जाने के बाद भाई बुड्ढा ने इन्हे नवीन वस्त्र पहनाए और इनके समक्ष सेली तथा दुपट्टा समर्पित किया। गुरु हरगोविन्द ने परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार युद्धोपयोगी तलवार कमर मे बाँध ली। धीरे-धीरे घोड़े एकत्र किये गए। आषाढ शुक्ल ५ संवत् १६६३ को स्वर्णमन्दिर के गलियारे में 'तख्त अकाल बुंगे' की स्थापना की गई, जहाँ आज भी सिख अपने महत्त्वपूर्ण शास्त्रों की रक्षा किया करते हैं। इन रक्षकों में से प्रमुख ५२ को चुनकर उन्हें आत्मरक्षक के रूप में नियुक्त किया गया। आगे चलकर यही गुरुओं की सिख सेना के प्रथम सिपाही बने। गुरु हरगोविन्द आखेट-प्रिय भी थे। बादशाह और हरगोविन्द के मध्य मित्रता बनी रही। गुरु हरगोविन्द के दो पत्नियाँ थीं प्रथम का नाम दामोदरी और द्वितीय का नाम नानकी था। दामोदरी से कार्तिक शुक्ल १५ सं० १६७० (१६१३ ई०) को गुरु दित्ता उत्पन्न हुए। नानकी के गर्भ से वैशाख कृष्ण ५ सं० १६७९ (१६२२ ई०) को तेगबहादुर का जन्म हुआ। आगे चलकर गुरुदित्ता से माघ शुक्ल १३ सं० १६८७ (सन् १६३०) को गुरु हरगोविन्द को एक पौत्र हुआ। इस बालक का नाम हरराय रखा गया और यही इनका उत्तराधिकारी बना। एक बार आखेट मे गुरु हरगोविन्द के अनुयायियों और शाहजहाँ के अनुचरों मे संघर्ष भी हुआ।

गुरु हरगोविन्द ३७ वर्ष तक गद्दी पर रहे। चैत्र सुदी ५, सं० १७०१

समन्वय का प्रयत्न कर इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। आपका जीवन-काल सं० १६७५ से १७५१ वि० था। अपनी बाल्यावस्था मे प्राणनाथजी ने किसी कारण विरक्त होकर अपने जन्मस्थान का त्याग कर दिया और साधुओ के साथ भ्रमण करने लगे। इस प्रकार सत्संग द्वारा इन्होने अरबी, फारसी, हिन्दी और सस्कृत मे अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। हिन्दुओ के वेदादि ग्रंथो के अतिरिक्त मुसलमानो की कुरान, ईसाइयो की इञ्जील तथा यहूदियो की तौरेतः जैसी पुस्तको का अध्ययन कर इन्होने अपने विचारो को व्यापक और परिष्कृत बनाया। आपको गुरु रूप में देवचन्द या निजानन्दाचार्य से प्रेरणा मिली थी। दीक्षित हो जाने के अनन्तर विदेशो तक आपने भ्रमण किया तथा छत्रसाल को भी अपना प्रधान शिष्य बनाया। आपकी रचनाओ की सख्या १४ कही जाती है, जिसमें महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'कलजमे शरीफ' (मुक्ति की पवित्र धारा) है। आपके मार्गप्रदर्शक गुरु की साधनाएँ 'प्रणामी-सम्प्रदाय' के रूप मे प्रकट हुई, जिसके अनुसार उस आनन्दघन की मूलशक्ति प्रेमस्वरूपिणी कही गई, प्रेम-साधना के बल से जीव खिंचकर तदाकार (परमात्मरूप) बन जाता है। आप पर भागवत मे वर्णित गोपियों की रागानुगा भक्ति का प्रभाव था। सन्त प्राणनाथ का मत भी पूर्व मे यही था, पर सूफियो के 'इश्क हकीकी' तथा ईसाइयो के 'ईश्वरीय प्रेम' के साथ विचार-विनिमय कर आपने यह निर्धारित किया कि प्रेम अनुभूतिगम्य होने पर भी अनिर्वचनीय है तथा शुद्ध प्रेमानुभूति ही पुरुषार्थ की चरमावस्था है। अतएव परमात्मा का नाम 'धाम' (परमपद) रखा। बाबा प्राणनाथ की रचनाओ की सख्या १४ बताई जाती है। जिनके नाम क्रमशः 'राम ग्रन्थ', 'प्रकाश ग्रन्थ', 'षट् ऋतु', 'कलस', 'सम्बन्ध', 'किरतन', 'खुलास', 'खेलवात', 'प्रकरण इलाही दुलहन', 'सागर सिंगार', 'बेडेसिगार सिंधि भाषा', 'मारफत सागर' और 'कायागत' नाम है। इनके अतिरिक्त उनकी एक पदावली भी प्रसिद्ध है जिसमे उनकी स्त्री इन्द्रावती की भी कतिपय रचनाओं का सग्रह किया गया है। आपने विभिन्न धर्मों मे अवतार लेने के प्रसग को अपनी पुस्तक 'कयामतनामा' मे विस्तृत उल्लेख के साथ वर्णित किया है। प्राणनाथ ने अपने को भी उस अवतार का ही उद्धारकर्त्ता रूप माना है।

धामी या प्रणामी-सम्प्रदाय

इस पन्थ के पूर्वनाम 'मेराजपन्थ', 'खिजड़ा' एव 'चकला' भी कहे जाते हैं। पर सर्वप्रसिद्ध नाम 'धामी' एव 'प्राणनाथी' सम्प्रदाय ही है। इसके अनुयायी 'साचीभाई' या 'भाई' कहलाते है। आजकल ये वैष्णव-सम्प्रदाय से

प्रभावित होकर कृष्ण के बालरूप का ध्यान करने लगे हैं। इस पन्थ के अनुयायी 'कलजमे शरीफ' धर्म ग्रन्थ की पूजा करते हैं। ये आत्मज्ञानी तथा योगी होते हैं तथा नैतिक आचरण पर विशेष ध्यान रखते है। 'पन्ना' नगर इनका प्रधान केन्द्र है।

सतनामी-सम्प्रदाय

सतनामी-सम्प्रदाय का अभिप्राय सत्यनाम से परिचित कराने वाले ईश्वर का सम्प्रदाय है। इसके मूल प्रवर्तक अनिश्चित है। ऊदादास, वीरभान जोगीदास के नामोल्लेख से इसका सम्बन्ध 'साध सम्प्रदाय' से प्रतीत होता है। कुछ विद्वान् इसे साध-सम्प्रदाय से अभिन्न ही मानते है। डा० बडथ्वाल के अनुसार "इस सम्प्रदाय के सस्थापक दादू-पन्थी जगजीवन दास जान पडते है।" किन्तु इसके लिए बडथ्वालजी ने कोई प्रमाण नहीं दिया है। इस सम्प्रदाय का नाम स० १७२९ के सतनामी विद्रोह के पूर्व नहीं सुन पडता था। इस सम्प्रदाय का 'साध-सम्प्रदाय' पर कोई प्रभाव नहीं दिखाई पडता है। इस विद्रोह में भाग लेने वाले अधिकतर ग्रामीण कृषक थे, जिनके प्रति ईश्वरीय विधान से विजेता होने की धारणाएँ बनने लगी थीं। मामूली तलवारें इन पर वार न कर सकती थीं। इन कृषक विद्रोहियों के साम्प्रदायिक वेशधारी तथा सत्तनामोच्चारण करने के कारण उसे धर्मानुरागी जनता का उपद्रव कहा गया। सत्तनामी लोगों का सादा रहन-सहन इनके साहस सगठन की योग्यता तथा भेद-भाव रहित जीवन-यापन करने की प्रणाली को सर्वथा स्तुत्य मानना चाहिए। इन लोगों का स्वभाव उत्तम एव चरित्रबल प्रशसनीय कहा जाता था। उक्त विद्रोह के समय ये नारनौल के समीपस्थ क्षेत्र में ही थे। औरगजेब ने इन्हें नष्ट करने के प्रयत्न किए। इनकी यह शाखा 'नारनौल शाखा' कही जाती है।

कोटवा शाखा

इस सम्प्रदाय का पुनः सगठन उत्तर-प्रदेश मे जगजीवन साहब के नेतृत्व मे हुआ। वे चन्देल ठाकुर थे। जगजीवन साहब बालपन मे ही बूला साहब तथा गोविन्द साहब से प्रभावित हुए थे। इनको विश्वेश्वरपुरी का शिष्य कहा जाता है, परन्तु बावरी-पन्थ की शिष्य परम्परा मे बूला का शिष्य कहा जाना विशेष सगत है। कुछ लोगो के ईर्ष्या भावना से पीडित होकर आप सरदहा छोडकर कोटवा में रहे और वहीं इनकी समाधि है। जगजीवन साहब की ७ पुस्तके 'शब्द सागर', 'ज्ञान-प्रकाश', 'प्रथम ग्रन्थ', 'आगमपद्धति', 'महाप्रलय', 'प्रेम ग्रन्थ' तथा 'अघविनाश' नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनमे से 'शब्दसागर' नामक ग्रन्थ 'जगजीवन साहब की

बानी' नाम से बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित है। इसमे परमात्मा को 'सत्त' नाम दिया है। ये मुक्तावस्था को भी उसी प्रभु की कृपा एव अन्तःप्रेरणा पर अवलम्बित समझते है तथा सबसे महत्त्वपूर्ण साधन 'सत्तनाम'-स्मरण मानते हैं। ये साधनो के लिए सत्तनाम का भजन अनिवार्य मानते है। ये सत्तनाम का रसामृत पानकर मन ही मन मगन रहने पर अधिक बल देते हैं और कहते हैं कि उस अभूति की विस्मृति हमारे दैनिक जीवन की व्यवस्था मे भी नहीं होनी चाहिएः—

सन्त नाम रस अमृत पिया, सो जग जनम पाय नहिं जिया।
कबहु मन कहुँ अनत न जाय, अन्तर भीतर रहै बनाय॥[1]

वरन् जगत् मे रहते हुए भी अपने को जगत् से न्यारा समझना चाहिए।

साधो अन्तर सुमिरत रहिये।
रहिये जगत जगत से न्यारे, दृढ़ ह्वै सुरति गहिये॥[2]

आपके प्रमुख शिष्यो में १६ हिन्दू तथा २ मुसलमान कहे जाते हैं। आपके प्रधान हिन्दू शिष्यों मे दूलनदास, देवीदास, गुसाईंदास, खेमदास तथा उपाध्याय चमार कहे जाते है जिनमे से प्रथम ४ 'चारपावा' के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी रचनाओ से ज्ञात होता है कि बाद मे इस सम्प्रदाय पर सगुणोपासना का प्रभाव क्रमशः पडने लगा। जगजीवनदासजी की भक्ति पहले विशुद्ध थी, किन्तु आगे पौराणिक पद्धति पर हो गई तथा आपके शिष्यों का ध्यान देवी-देवताओं की ओर भी जाने लगा। दूलनदास के शिष्यों में 'सिद्धादास' प्रसिद्ध हैं। आपके प्रधान शिष्य पहलवानदास थे, जिन्हे गुरुकृपा से निर्गुण-साधना का सम्पूर्ण रहस्य ज्ञात हो गया। 'नारनौली शाखा' की अपेक्षाकृत इसकी विशेष प्रसिद्धि हुई क्योकि इसकी आध्यात्मिक साधना विशेष महत्त्व रखती एवं इसके अनुयायी विरक्त जीवन-यापन कर इसका आदर्श उच्च बनाए रहे।

छत्तीसगढ़ी शाखा

इसे मध्यप्रदेश के बिलासपुर जिले में घासीदास ने चलाया था। घासीदास का पहला नाम घासीराम था और ये जाति के चमार थे। ये अत्यन्त निर्धन किसान थे और गिरोद नामक गाँव मे किसी के यहाँ नौकरी करते थे। एक बार ये अपने भाई के साथ जगन्नाथपुरी तीर्थ करने गए, किन्तु कुछ दूर जाकर 'सन्तनाम', 'सत्तनाम' कहते-कहते वापस आ गए। इन्होने अपने उदार व्यक्तित्व से जनता को बहुत

१. जगजीवन साहब की बानी, पृ० ५३।
२ वही, पृ० १०१।

प्रभावित किया। इनके पश्चात् इनके पुत्र बालकदास तथा फिर अगरदास एव उनके पुत्र अगरमानदास तथा अजबदास उत्तराधिकारी हुए। इसके अनुयायी अपने महन्त का चरणामृत लेकर एक रुपये की भेंट चढाते हैं। 'सतनामी' अधिकतर साधारण मजदूर एव किसान ही पाये जाते हैं। इसमें निम्न-श्रेणी के लोग अधिक सख्या मे सम्मिलित है। ये चमार होने के कारण अपने को 'रैदासी' भी कहा करते हैं, परन्तु यह असगत तथा असम्बद्ध है। इसके सिद्धान्तानुसार ईश्वर 'एक' है और वह निर्गुण एव निराकार है। देवो मे सूर्य मात्र ही इनके द्वारा पूज्य हैं। इनके यहाँ वर्ण-व्यवस्था पालन निषिद्ध माना गया। दोपहर के बाद हल चलाना वर्जित माना गया। इसके कठोर नियमों का पालन करने वाले 'जहरिया' कहलाते है। ये मद्यपानकर्ताओ को 'शाक्त' कहते है। इसका कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। यह शाखा विशेषतः चमारों की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रही।

धरनीश्वरी-सम्प्रदाय

बाबा धरनीदास एक उच्चकोटि के महात्मा थे। इनकी जन्म एव मरण की तिथियों का ठीक पता लगाना कठिन है और इनके जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का विवरण अधिकतर अनुमान पर ही आश्रित जान पडता है। इनका जन्म काल सवत् १७१३ में माना जाता है। आपकी रचना 'प्रेम-प्रगास' के अनुसार मॉझी निवासी परसराम श्रीवास्तव के वैष्णवकुल मे आपका जन्म हुआ। पितृ-निधन से सक्षुब्ध होकर आप भगवच्चिन्तन में लीन रहने लगे। आपने बडी श्रद्धा के साथ गुरु विनोदानन्द का उल्लेख किया है। रामनगर आपका भजन-स्थान तथा मन्दिर 'धरनेश्वर का द्वारा' कहलाया।

आपकी 'प्रेम-प्रगास', 'शब्द-प्रकाश' एव 'रत्नावली' रचनाएँ प्रसिद्ध है। 'प्रेम-प्रगास' एक प्रेम-कहानी का आधार लेकर निर्मित ग्रन्थ है, जिसमें सूफियों की शैली के अनुसार जीवात्मा एव परमात्मा का मिलन दर्शाया गया है। 'रत्नावली' के अन्तर्गत बाबा धरनीदास ने अपनी गुरु-परम्परा के सम्बन्ध मे बहुत कुछ परिचय दिया है। आपने स्वामी रामानन्द के सम्प्रदायानुसार तुलसी की माला एव तिलक की प्रशसा की है। अपने 'रत्नावली' ग्रन्थ में इन्होंने कहा है—

तुलसी कंठ तिलक हरि बंदिल, धरनी धन्य सो देही।
रामानंद औतार छाप कलि, मुकति को मारग एही॥

आपकी बानियों का सकलन प्रकाशित है। 'प्रेम-प्रगास' मे सूफियों की शैली के

अनुसार प्रेम-कथा का आश्रय लेकर जीवात्मा परमात्मा का मिलन दर्शाया है। 'शब्द-प्रकाश' आपके सिद्धान्तो का परिचायक है। आप परमतत्व को 'दूरता-राम' कहकर 'बालगोपाल' एव धरनीश्वर को उसका प्रतीक मानते हैं। आपने प्रेमभक्ति के स्वरूप का भी वर्णन किया है। बाह्य पूजनादि को महत्त्व न देकर निर्गुण-पन्थ का समर्थन किया है। आपका ध्येय सन्तमतानुसार है तथा सूफी-मत का प्रभाव भी परिलक्षित होता है।

आपके पश्चात् अमरदास, मायादास, रतनदास, बालमुकुन्ददास, रामदास, सीतारामदास, हरनन्दनदास एवं रामदास इनके शिष्य-प्रशिष्य हुए। 'मॉझी' की गद्दी ही आपका प्रधान केन्द्र है। इस पन्थ के अनुयायी बलिया मे अधिकतर पाए जाते हैं तथा उनका मूल सम्बन्ध परसा के मठ से विशेष है, जिसमे सन्त चैनराम बाबा प्रसिद्ध हुए। इनके शिष्य-प्रशिष्यो मे महाराज बाबा, सुदिष्ठ बाबा तथा रघुपतिदास सात्विकी हुए। उनमे से कुछ के नाम से मेले भी लगा करते हैं।

दरियादासी-सम्प्रदाय

दरिया नाम के दो समकालीन सन्त बिहार तथा मारवाड मे हुए, जिनमें से प्रथम दर्जी तथा द्वितीय धुनिया थे। प्रथम का अनुभव व्यापक तथा सूफी, सत्तनामी तथा कबीर पन्थ से प्रभावित है। द्वितीय की स्वानुभूति बडी गहन है। प्रथम बिहार मे रहने के कारण बिहारवाले और द्वितीय मारवाड मे रहने के कारण मारवाड़-वाले दरिया साहब कहलाये। दोनो ने आगे चलकर सन्तमत स्वीकार किया और एक सच्चे सन्त की भॉति जीवन-यापन कर अन्त मे स्वर्गारोहण किया। पूर्व की खोज से उन्हे उज्जैनवशी क्षत्रिय कहा जाता है। आपकी प्रसिद्ध रचना 'ज्ञानदीपक' से आपका जन्म सं० १६९१ तथा मृत्यु स० १८३७ मे जान पडती है। आपको १ मास की अवस्था मे ही दरियाशाह नामक भगवान् के दर्शन हुए। आपको जीवन के १५वे वर्ष मे विरागोत्पत्ति हुई तथा २०वे वर्ष मे भक्ति का पूर्ण विकास हुआ था। आपके प्रधान शिष्यो की सख्या ३६ थी जिनमे दलदास सर्व प्रसिद्ध हुए। आपकी रचना 'ज्ञान स्वरोदय' के अनुसार आप १९ ग्रन्थों के लेखक प्रतीत होते है, जिनमे से 'दरियासागर' एव 'ज्ञानदीपक' प्रकाशित है। इस ग्रन्थ के अनुसार आपका मत कबीर पन्थ के समान ही प्रतीत होता है। कबीर-पन्थ के सत्तलोक की भॉति उसे आपने 'छपलोक' नाम दिया है तथा उसे 'अभयलोक' एव 'अमरपुर' भी कहा है। सत्तपुरुष का निवास सत्तलोक मे बताया है जो कबीर के परमतत्त्व 'राम' की भॉति है। उन्होने कहा है—

तीनि लोक के ऊपरे, तहँ अभय लोक विस्तार।
सत्त पुरुष परवाना पावै, पहुँचै जाय करार ॥[1]

इस अभय-लोक को प्राप्त करने के लिए 'सन्त'-शब्द का ज्ञान अनिवार्य है—

सत्त शब्द जिनके वलजाना।
अभय लोक सो सन्त समाना ॥[2]

वे ब्रह्म की खोज जीव के अन्तर्गत ही करने के अनुगामी हैं।

खोजो जीव, ब्रह्म मिलि जाई।[3]

वे कबीर साहब और ब्रह्म मे कोई अन्तर नहीं देखते थे तथा उसे ये 'निरगुन सरगुन ते भीना' तथा एक 'अछै वृक्ष' के रूप में देखते हैं और उसका वर्णन सृष्टि-कर्ता के रूप में भी करते हैं। आपने अपने तथा कबीर में कोई अन्तर नहीं बताया है तथा अपने को उन्हीं की भाँति सत्तपुरुष के सन्देश-वाहक के रूप में अवतरित बताया है। इस ग्रन्थ की वर्णन-शैली एव पारिभाषिक शब्द कबीर के सिद्धान्तों के विकसित एवं परिवर्तित रूप मात्र हैं। आपने 'ज्ञान स्वरोदय' में स्वर विद्या का अध्ययन बड़ी सूक्ष्मता से किया है।

आपके पन्थ का प्रचार उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों तथा बिहार में है तथा प्रधान गद्दी धरकन्धे में है। इनके अनुयायियों का मूलमन्त्र 'वे बहा' है तथा 'सत्तनाम' का प्रयोग श्रद्धा से करते हैं।

दरिया-पन्थ

मारवाड़ी दरिया साहब का जन्म जैतारन गाँव में सं० १७३३ में हुआ तथा स० १८१५ में मृत्यु हुई। ये जाति के मुसलमान थे, स्वय एक स्थान पर लिखते हैं—

जो धुनियाँ तो भी मैं राम तुम्हारा।
अधम कमीन जाति मतिहीना, तुम तौ हौ सिरताज हमारा ॥[4]

इनके प्रारम्भिक जीवन का कुछ पता नहीं चलता, केवल इतना ही प्रसिद्ध है कि इन्होंने बीकानेर के खियानसर गाँव के किसी प्रेमजी से शिक्षा-दीक्षा ली थी। आप एक अनुभवी एवं योग्य व्यक्ति थे। आपकी (बानियों) रचनाओं का संग्रह प्रकाशित हुआ। कुछ आपको दादू का अवतार कहते हैं परन्तु इनकी अपेक्षाकृत कबीर से आप विशेष प्रभावित जान पड़ते हैं। आपकी विशेषता

१. दरिया सागर, पृ० १।
२ वही, पृ० १३।
३ वही, पृ० १३।
४. दरियासाहब (मारवाड़वाले) की बानी, पृ० १।

आपके शुद्ध एवं कोमल हृदय से निःसृत सरल एवं प्रसादगुण-सम्पन्न रचनाओं मे है। आपके गुरु का नाम प्रेमदयाल था। आपकी साधना मे नामस्मरण का विशेष स्थान है। परन्तु यह जप साधारण नही वरन् यह रस सर्वप्रथम जिह्वा से उत्पन्न होकर हृदय मे उतरकर नाभिकमल में प्रवेश कर जाता है। वहाँ से मेरुदण्ड की जड़ तक जाकर ऊपर की ओर त्रिकुटी मे पहुँच, अनन्त सुख का अनुभव करता है। आपका 'पूरन-ब्रह्म' मन, बुद्धि, चित्त, अहकार के लिए अगम्य वस्तु है। आपकी अनुभूति गहन है। साधना की सच्ची एवं पूर्ण सिद्धि इन्होने साधक के प्रत्येक अंग के परिवर्तन मे ही मानी है। उसके लिए गृह-परित्याग की आवश्यकता नहीं। इन्होने अन्य सन्तों की भाँति नारी जाति की निन्दा नही की।

सन्त शिवनारायण के पौराणिक एव ऐतिहासिक परिचयो मे आपका चन्द-वार गाँव मे नरौनी क्षत्रिय बाघराय के घर जन्म लेना माना गया है। मूल-ग्रन्थ के अनुसार इनका जन्म स० १७७३ की कार्तिक सुदी ३, बृहस्पतिवार की आधी रात के समय रोहिणी नक्षत्र मे हुआ था, किन्तु इसे पूर्णतया प्रमाणित तथा युक्तिसगत नहीं कहा जा सकता। आपके गुरु एव पथ-प्रदर्शक सन्त दुखहरन थे। उन्हीं की कृपा से 'गुरु अन्यास' की रचना की। 'सन्त-सुन्दर' ग्रन्थ की रचना आपने अहमदशाह के समय में की थी। इनके शासनकाल में ये विख्यात महापुरुष हो गए। बलिया जिले का चन्दवार ग्राम इनके अनुयायियो का प्रधान केन्द्र माना जाता है तथा वहीं मठ है। आपकी रचनाओ की संख्या १६ कही जाती है किन्तु सर्वमान्य-ग्रन्थ 'गुरु-अन्यास' है, जो इस सम्प्रदाय मे पूजित होता है। जिसकी वर्णनशैली पौराणिक परम्परानुसार है। इसका प्रधानोद्देश्य चरित्र-निर्माण की पूर्ति है। इसके अन्य नाम 'ग्रन्थ एवं बीजक' हैं। इसके अतिरिक्त 'सन्त-सुन्दर', 'सन्त-विलास', 'सन्त-सागर' भी आपके ग्रन्थ है। इस पन्थ के ग्रन्थो के नाम एव सख्या में बहुत मतभेद है। इस पन्थ की ११ प्रसिद्ध रचनाएँ है—'सन्त विलास', 'भजन ग्रन्थ', 'सन्त सुन्दर', 'गुरुन्यास', 'सन्त अचारी', 'सन्त उपदेश', 'शब्दावली' 'सन्त परवान', 'सन्तमहिमा' तथा 'सन्तसागर' है। इस सम्प्रदाय का मुख्य उद्देश्य प्रत्येक अनुयायी को 'सन्त विलास' एव 'सन्त देश' लोक तक पहुँचा देना है। ससार को 'कालदेश' बताया गया है। अलौकिक प्रदेश मे पहुँचने के लिए आश्रय ग्रहण आवश्यक न बताकर, पथ-प्रदर्शन मात्र ही आवश्यक कहा है। उस मार्ग पर निज-बल का भरोसा करना पडता है। वे स्वानुभूति पर अधिक जोर देते हैं और मन को विविध विकारों

शिवनारायणी-सम्प्रदाय

से उन्मुक्त कर निर्मल, निश्चल एव पूर्ण शान्तिमय बना देना मानव जीवन की चरम सीमा है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'सन्त सुन्दर' में कहा है :—

सीव नरायन गाँव यह, अपना अपना गाँव।
अपना अपना सन्त होइ, अपना अपना नाँव॥

आपने मानव के अन्तर्गत ४० त्रुटियों तथा उनके निराकरण का सकेत किया है। इस पन्थ के अनुसार सर्वश्रेष्ठ नैतिक गुण सत्य, अहिसा, दया, क्षमा, मादक वस्तु परित्याग एव एक-पत्नीव्रत है। इस मत के माननेवाले किसी प्रकार के भेष अथवा बाह्याडम्बर मे विश्वास नहीं करते। इस सम्प्रदाय के चार मठ हैं, जो ससना, बहादुरपुर, भेल्सरी, चन्दवार एव गाजीपुर में हैं। सन्त शिव-नारायण के चार प्रधान शिष्य (बलिया निवासी) रामनाथ, सदाशिव, लखनराम एव लेखराज थे। इस पन्थ के सभी अनुयायी 'भगत' तथा 'सन्त' कहे जाते हैं और सबके इष्टदेव सन्तपति नाम से शिवनारायणजी हैं। इसके अनुयायियो में जाति, वर्ण, आश्रम या पूर्व धर्म के अनुसार किसी प्रकार का वर्गीकरण नहीं किया जाता। सभी जातियो के लोग इस धर्म में पाये जाते है। आजकल निम्न-जाति के लोग ही इसके अनुयायी है। इस पन्थ मे योग्य स्त्रियाँ भी मठाधीश बन जाती है।

चरणदासी-सम्प्रदाय

चरणदास की शिष्या सहजोबाई की रचना 'सहज प्रकाश' के आधार पर उनका जन्म डेहरा मे स० १७६० में मुरलीधर के घर में हुआ। आपके गुरु शुकदेव थे, जिन्होने इनका नाम रणजीत के स्थान पर चरण-दास रखा और इन्हे 'श्रीमद्भागवत' एव 'ज्ञानयोग' की शिक्षा दी। अपने गुरु द्वारा दीक्षित हो जाने के अनन्तर, सन्त चरणदास ने प्रसिद्ध तीर्थस्थानों का पर्यटन आरम्भ कर दिया और बहुत दिनों तक ब्रज-मण्डल मे निवास भी किया। आपने प्रारम्भिक जीवन मे ही योगाभ्यास की क्रियाएँ एव स्वरोदयज्ञान में निपुणता प्राप्त की। महाशय कुक के अनुसार आपके गुरु का नाम सुखदेवदास था, पर आपकी रचनाओ द्वारा सुखदेव को 'शुकदेव' ही मानना युक्ति-युक्त है। श्रीकृष्ण के प्रति दृढ भक्ति एव 'भागवती-भक्ति' के कारण आपको 'श्यामचरणदासाचार्य' भी कहा जाता है। ३०वे वर्ष मे अपना आध्यात्मिक मार्ग निर्धारित कर दिल्ली मे मत प्रचार करने लगे। वहीं स० १८३९ में आपका देहावसान हो गया। आपके प्रमुख शिष्य ५२ कहे जाते है, अत. इस पन्थ की उतनी ही शाखाएँ भी कही जाती हैं। दया बाई एवं सहजोबाई आपकी प्रमुख शिष्याएँ थी,

जिन्होने क्रमशः 'दया बोध', 'विनयमालिक' 'सहजप्रकाश' तथा 'सोलह तत्त्व निर्णय' लिखा। मुहम्मदशाह का भी सन्त चरणदास का शिष्य होना कहा जाता है। कहा जाता है कि इन्होने उसे नादिरशाह की चढाई की सूचना, घटना के ६ महीना पूर्व ही दे दी थी और इस बात से प्रसन्न होकर उन्होने इनको सैकडो गॉव दे दिये थे। आपकी रचनाएँ २१ कही जाती है जिनमे से १२ प्रामाणिक मानी जाती है। 'ब्रजचरित्र', 'अमरलोक अखण्डधाम वर्णन', 'धर्म-जहाज', 'अष्टाग योग वर्णन', 'योगसन्देह सागर', 'ज्ञानस्वरोदय', 'पचोपनिषत्' 'भक्तिपदार्थ वर्णन', 'मनविकृतकरण सार', 'ब्रह्मज्ञानसागर', 'शब्द' तथा 'भक्ति सागर'। इन रचनाओ के मुख्य विषय तीन वर्गों से सम्बन्धित है—योग-साधना, भक्ति तथा ब्रह्म-ज्ञान। इन्होने इन तीनो ही प्रधान विषयो को प्रायः समान-भाव के साथ अपनाया है और इसी प्रकार उक्त ग्रन्थों मे इनकी चर्चा भी की है। एक स्थल पर स्पष्ट शब्दो मे लिखा है—

> योग मुक्ति, हरिभक्ति करि, ब्रह्मज्ञान दृढ करि गह्यो।
> आतम तत्व विचारि करि, अजपा मे सनि मनि रह्यो ॥[1]

इस सम्प्रदाय को योग का ही पन्थ माना गया है, परन्तु इसके पुष्ट प्रमाण प्राप्य न होने से इस मत को तीनों का समन्वय कहा जा सकता है। आपको अपने मत को 'शुकदेवामोदित भागवत' मत भी कहा है। आपका कथन है, जब ध्याता ध्यॉन मे लीन हो जाता है और ध्यान एव ध्येय मे सुरति बुद्धि से परे हो जाती है, तब भक्तियोग की दशा आती है। षट्चक्र भेदन से शरीर चेतनाशून्य हो जाता है और सुरति नाद मे लीन हो क्रिया-शून्य बन जाने पर ही योग-समाधि बन जाती है। ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय की त्रिपुटी नष्ट हो जाने पर आत्मानुभूति की एकरस दशा को ज्ञान-समाधि कहते है। परन्तु प्रक्रियाओ की भिन्नता होने पर भी अन्तिम स्थिति तीनों की एक ही है। भक्तियोग के अन्तर्गत 'अमर लोक' को भौतिक रूप न देकर एक अनिर्वचनीय स्थिति बताया है। आपने निष्काम-प्रेमा भक्ति का प्रतिपादन किया है तथा सामाजिक व्यवहार मे सच्चरित्रता का समर्थन। आपने कर्मवाद को भी विशेष महत्त्व दिया है। इन्होने जिन बातो को त्याग देने का विशेष आग्रह किया है, वे असत्य-भाषण, अपशब्द कथन, कठोर वचन, चोरी, परस्त्री-गमन, हिंसा, पर-हानिचिन्तन, वैर एव विषयो के प्रति अधिक आसक्ति है। चरनदास ने समाजसेवा, सद्गुरु-संगति तथा परमात्मा के प्रति दृढ अनुराग को अपनाने का विशेष आग्रह किया

१ भक्ति-सागर ज्ञानस्वरोदय, पृ० १५६।

है। इस पन्थ के अनुयायी विरक्त एवं गृहस्थ दोनों ही होते हैं तथा ये अपने गुरु के प्रति, अपने गुरु शुकदेव के प्रति दर्शायी श्रद्धा से भी अधिक श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं तथा भगवान् से भी बड़ा गुरु को माना है। सहजोबाई ने अपने गुरु को हरि से भी बड़ा माना है और कहा है—

राम तजूँ पर गुरु न विसारूँ।
गुरु के सम हरि को न निहारूँ॥[1]

इस सम्प्रदाय का अधिक प्रचार दिल्ली, उत्तर प्रदेश पूर्वी पंजाब एवं राजस्थान मे प्राप्त होता है।

प्रस्तुत पन्थ के प्रवर्तक सन्त गरीबदास ने रोहतक जिले मे छुडानी गॉव मे सं० १७७४ मे जाट जाति मे जन्म लिया। आप स्वप्न में कबीरदास के शिष्य हो गए। ये उन्हीं को अपना पथ-प्रदर्शक मानकर उन्ही के

गरीब-पन्थ

मत से प्रभावित जान पड़ते हैं। ये आमरण गृहस्थ रहे तथा इस गद्दी के सभी उत्तराधिकारी गृहस्थ हुए। उन्होने अपने समय में एक मेला लगवाया था, जो छुडानी गॉव मे आज भी उसी प्रकार से लगता है और पन्थ के सभी अनुयायी उस अवसर पर उपस्थित होकर इनके प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं। आपकी रचनाओं का संग्रह 'हिंखर बोध' नाम से प्रसिद्ध है तथा कुछ रचनाएँ आपकी 'बानी' नाम से प्रकाशित हैं। आपका मत कबीर के आदर्श द्वारा अनुप्राणित था। आपने परमात्मा को सतपुरुष कहकर निराकार रूप दिया है। गरीबदास ने 'यत्पिण्डे तत्ब्रह्माण्डे' का भी निरूपण किया है। गरीबदास ने परमात्मा को सत्त-पुरुष नाम दिया है और उसका परिचय उसे निराकार, निर्विशेष, निर्लेप, निर्गुन, अकल, अनूपम, आदि, मध्य और अन्त से रहित करके किया है। फिर भी कहा है—

सब्द अतीत अगाध है निरगुन सरगुन नाहि।

गरीबदासने उसकी स्वानुभूतिजनित आनन्दोपलब्धि को ही कर्त्तव्य बताया है, जिसकी साधना, सुरत, निरत, मन, पवन के एकीकरण एव समीकरण के आधार पर गगन-मंडल में पहुँचकर दर्शन करना है।

परमहंस पानपदास का जन्म स० १७७६ मे बीरबल वंश में हुआ। ये दरिद्रता से अभिशप्त बालक अनाथ की भॉति त्यक्त होने पर तिरपान जाति के लोगों के द्वारा पोषित किये गए तथा राजगीर का कार्य सीख

पानप-पन्थ

कर विख्यात हो गए। ये महात्मा मंगनीराम से दीक्षित होकर

---

१. सहज प्रकाश, पृ० ३।

मूल व्यवसाय मे लगे रहे। गुरु के साथ सत्सग कर, उनसे आज्ञा लेकर दिल्ली में आध्यात्मिक उपदेश देने लगे एवं 'धामपुर' मे प्रधान केन्द्र बनाकर मत का प्रचार करने लगे। आपकी रचनाओं का सग्रह 'वाणी ग्रन्थ' नाम से सुरक्षित है। सन्त पानपदास का देहान्त सं० १८३० की फाल्गुन कृष्ण सप्तमी को हुआ था। इनकी समाधि धामपुर मे ही है। इनके चार प्रमुख शिष्य थे जिनके नाम मनसादास, काशीदास, चूहड़राम तथा बुद्धिदास थे। आपके उपदेशो मे अधिकतर दया, क्षमा, सन्तोष, भेद-भाव-हीनता का महत्त्व वर्णित है। आपने भगवन्नाम-स्मरण पर भी विशेष ध्यान दिया। यह पन्थ हिन्दू धर्म से पूर्णतः प्रभावित है। इनके अनुयायियो का कथन है कि—

"पानप, नानक, रैदास, कबीरा। एक तत्व के चार शरीरा॥"

रामसनेही-सम्प्रदाय

सन्त रामचरन सन्तराम नाम से भी प्रसिद्ध हैं। आपका जन्म जयपुर राज्य के अन्तर्गत ढंढाण प्रदेश के सूरसेन अथवा सोडो गॉव मे स० १७७६ की माघ सुदी १४ को शनिवार के दिन हुआ था। एक दिन स्वप्न मे एक दयालु महात्मा को देखकर उसकी खोज में ये निकल गए और खोजते-खोजते इन्हे मेवाड़ प्रदेश के किसी दान्तडा नामक गॉव में ऐसे महात्मा के दर्शन हुए जिनका नाम कृपाराम था। कृपाराम से दीक्षित होने के अनन्तर आपका नाम रामचरन हो गया। सं० १८२५ में आपने इस सम्प्रदाय की स्थापना की। 'रामावत' या 'रामानन्दी-सम्प्रदाय' से प्रभावित होने पर आप परमात्मा को निराकार मानते हैं। आपकी मुख्य साधना निर्गुण राम का नामस्मरण है तथा इसे मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन मानते हैं। इनका सर्वप्रधान मठ शाहपुरा का 'रामद्वारा' है। आपने गुरु को बड़ा महत्त्व प्रदान किया है तथा प्रेम-साधना को भी एक प्रधान साधन माना है। इसी कारण ही इस सम्प्रदाय का यह नाम पडा। सन्त रामचरण का देहान्त स० १८५५ में हुआ। आपके २२५ शिष्यों मे से १२ प्रधान थे। आपकी रचनाओ की कुल सख्या ३६२५० बानियॉ कही जाती है। इन रचनाओं मे से कुछ 'नाम गुरु महिमा', 'नाम प्रताप', 'शब्द प्रकाश', 'अणामै विलास', 'अमृत उपदेश', 'जिज्ञास बोध', 'विश्वास बोध', 'विश्राम बोध', 'समता निवास', 'राम रसायन बोध', 'चिन्तामणि', 'मन खण्डन', 'शब्द' एव 'दृष्टि सागर' अधिक प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी गुजरात, अहमदाबाद, राजपूताना आदि रियासतों मे पाये जाते हैं।

(१) दीन दरवेश—आप 'ईस्ट-इण्डिया कम्पनी' की सेना में मिस्त्री थे पर बाँह कट जाने से निकाल दिये जाने पर आप विरक्त बन सतसंग करने लगे। अपनी जिज्ञासाओंकी निवृत्ति बाबा बालनाथ से होने पर, आप इनके शिष्य बन गए। तत्पश्चात् ये अपना घर-बार छोड़कर दूर-दूर तक भ्रमण करने लगे और समय-समय पर इन्होंने अनेक महात्माओं के दर्शनकर उनसे लाभ उठाया। आपका समय विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर उन्नीसवीं के प्रथम चरण तक समझा जाता है। इनकी दिनचर्या अपने अनुभव के अनुसार कुछ-न-कुछ पद्य रचना करना तथा सर्वसाधारण को अपने मत का उपदेश देना था। इनकी रचनाएँ अधिकतर अन्य सन्तों या भक्तों की कृतियों के संग्रहों में पायी जाती है। उनका कोई पृथक् संग्रह अभी तक न प्रकाशित हुआ है और न हस्त-लिखित रूप में ही कहीं देखने को मिला है। आपने आत्मचिन्तन को विशेष महत्त्व देकर स्वसिद्धान्त-स्थिर कर जीवन-पद्धति में परिवर्तन किया। आपकी कृतियों के विषय सरल, स्वतन्त्र जीवन, विश्वप्रेम, परोपकार, ईश्वर भक्ति, बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा भाव है। जीवन की क्षणभंगुरता, कर्मवाद का महत्त्व एवं ईश्वरीय प्रेरणा पर भी विचार प्रकट किए हैं। आपकी भाषा सरल एवं मुहावरेदार है तथा कथनशैली में गहन अनुभव शक्ति का प्रभाव है।

फुटकर सन्त

(२) सन्त बुल्लेशाह—मियाँमीर नामक सूफी फकीर से तप का आदेश पाकर तपस्या करने के पश्चात् बुल्लेशाह ने अद्वैत सिद्धान्तों के उपदेशों को ग्रहण किया। कुछ लोग आपको कुस्तुन्तुनिया निवासी तथा कुछ लाहौर निवासी भी कहते हैं। आपका जन्म सं० १७३७ तथा मृत्यु सं० १८१० में कही जाती है। आपकी रचनाओं के संग्रह में दोहरे, काफी; सीहर्फी, अठवारा और बारामासा है। आपके विचार बहुत परिमार्जित थे और उन पर कबीर साहब के सिद्धान्तों की स्पष्ट छाप लक्षित होती है। आपका 'कादरी-सत्तारी सम्प्रदाय' के साथ सम्बन्ध था तथा साधारण सूफियों की भाँति वेदान्त-सिद्धांतों द्वारा प्रभावित थे। आपके परिमार्जित विचारों पर कबीर के सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रभाव है। आपके प्रत्येक शब्द निजी अनुभव से आप्लावित है। आपकी रचनाओं में सर्वात्मवाद की भावना पाई जाती है।

(३) बाबा किनाराम अघोरी—आपका जन्म चन्दौली तहसील में रामगढ में रघुवंशी क्षत्रियों के घर हुआ था। आप बाल्यावस्था से ही विरक्त एकान्त-प्रेमी एवं रामनाम-स्मरणकर्ता थे। बाबा शिवराम से दीक्षित हो, उनकी सेवा-सुश्रुषा करते हुए जीवन-यापन किया। आपने देश-भ्रमण कर, साधु सत्संग

तथा आत्मचिन्तन का आनन्द लिया । हेनरी बालफोर ने अघोर मत के सम्बन्ध में कुछ सामग्री एकत्र कर उसे 'लाइफ हिस्ट्री आफ ऐन अघोरी फकीर' नाम से प्रकाशित किया है और बतलाया है कि अघोर पन्थ वस्तुतः गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित गोरख-पन्थ की एक शाखा है । इस शाखा की तीन उपशाखाएँ 'औघड़', 'सर्वंगी' और 'घुरे' की भी चर्चा की गई है । आपको गिरनार मे दत्तात्रेय के दर्शन हुए । उन्हीं को आपने अपना परमगुरु एव पथ-प्रदर्शक मान कर अपने मत को 'अवधूत मत' कहा है । काशी मे प्रसिद्ध महात्मा कालूराम 'अघोरी' की सिद्धियो से प्रभावित होकर उनसे दीक्षा ली । वहीं कृमिकुंड पर ही रहने लगे और गुरु के पश्चात् 'अघोर-पन्थ' का प्रचार किया । आपकी मृत्यु स० १८२६ मे १४२ वर्ष की अवस्था मे हुई । आपने चार मठ स्थापित किए, जिनमे 'रामशाला' प्रधान मठ है । आपके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर काशी के राजा बलवन्तसिंह ने १९६ गॉवो की वार्षिक आय आपके प्रति अर्पित कर दी थी । इनके पन्थ को बहुधा 'किनारामी अघोर-पन्थ' भी कहा जाता है, जिसके अनुयायी प्रायः सभी जाति के लोग है और उनमे मुसलमान भी सम्मिलित है । 'अघोर पन्थ' का प्रचार नेपाल, गुजरात, समरकन्द तक कहा जाता है । आपकी रचना 'विवेकसार' तथा इस पन्थ का साराश यह है कि असार संसार मे त्रिताप बाधित जीवो को आत्मप्रकाश प्रकट करना आवश्यक है । इसमे सत्यपुरुष तथा अष्टागो का भी वर्णन है । आपके सिद्धान्त सन्त-मत से मिलते है । जोग-जुगुति, सुरति, निरवान आदि व्यवहृत शब्द 'सन्त-मत' की ही भॉति है ।

आधुनिक-युग (सं० १८५० से अब-तक)

१९ वीं शताब्दी के लगभग विदेशी आधिपत्य के कारण नवीन विवेचन पद्धति का प्रारम्भ हुआ जिसके परिणामस्वरूप भारतीय-धार्मिक साहित्य एव साम्प्रदायिक विकास का अध्ययन भी पादरियो द्वारा हुआ । इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक नवीन एव प्राचीन-पन्थो मे वाह्य विधानो का अवाछनीय आधिक्य हो गया, जो कि आधुनिक युग के प्रथम विख्यात सन्त तुलसी साहब को अरुचिकर लगा तथा पन्थ-निर्माण भी आपको अनावश्यक ही लगा । सन्तो की समीक्षात्मक प्रवृत्ति ने प्रमुख मान्य ग्रन्थो का अध्ययन कराया और विविध-भाष्य पचग्रन्थी, त्रिज्या आदि रचे जाने लगे । आधुनिक सन्त मानव-जीवन के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का इच्छुक था । पाप-पुण्य को कुछ महत्त्व न दिया गया । पर यह सिद्धान्त पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित मस्तिष्को का ही था । इस समय

में भी स्वतन्त्र, निजी सिद्धान्त स्थिर रखनेवाले, सन्त स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द आदि कहे जाते हैं जिन्होंने संघर्ष युग में भी अपने को सन्तुलित रखा।

साहिब पन्थ

साहिब पन्थ के प्रवर्तक 'तुलसी साहब' या साहिबजी थे। इन्हें श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल का बताया जाता है। आपकी अवस्था ६० वर्ष की कही जाती है। आपके प्रारम्भ से ही विरक्त होने से राज्य स्वीकार न करने पर आपके पिता ने आपके छोटे भाई बाजीराव को गद्दी दी। कहा जाता है कि आप किसी गुरु से नहीं अपितु स्वय भगवत् सकेतो द्वारा अनुप्राणित हुए थे। कुछ लोग उन्हें 'आवापन्थ' से सम्बन्धित बताते है, पर यह अप्रमाणित है। आपकी 'घटरामायन' नाम रचना से आपका पूर्व जन्म से गोस्वामी तुलसीदास होना ज्ञात होता है, तथा उनके साथ अपना सामञ्जस्य स्थापित करने के हेतु मानस कथा को इसमे घटाने का प्रयास किया है। आपकी तीन रचनाएँ 'शब्दावली', 'घटरामायन', 'रत्नसागर' उपलब्ध हैं। प्रथम में बानियो का सग्रह है; द्वितीय में पिण्ड, ब्रह्माण्ड के रहस्यो का वर्णन, वैराग्य, योग, भक्ति-ज्ञान-वर्णन तथा भिन्न धर्म-वालों के साथ सम्वाद वर्णित हैं। 'रत्नसागर' में सृष्टि रचना का रहस्य, कर्म-वाद, सत्सग प्रधान विषय है। आपने अपने मत को सन्त-मत कहा है। तुलसी साहब ने कबीर, नानकादि सन्तों को आदर्श बताते हुए आलोचनात्मक प्रणाली द्वारा उनके अनुयायियों को पथ-भ्रष्ट सिद्ध किया है। आप की युक्तियाँ काल्पनिक होते हुए भी बुद्धि-संगत एव समीचीन है तथा अन्धानुसरण कर्ताओ के लिए चेतावनी है। उन्होंने मन को ४० स्थलों का वासी कहकर सुरत की स्थिति मे उसका ४१ वॉ रूप होना माना है। तुलसी साहब ने मन के नाश से निरजन का नाश और ब्रह्म प्रवेश तथा ब्रह्म का शब्द में लय, शब्द का शून्य मे, शून्य का महाशून्य में लीन होना बतलाया है और महाशून्य को ही सत्तलोक कहा है। इसी स्थिति को अगमपुरधाम कहा है। आपकी समाधि हाथरस में है। सन्त परम्परा के इतिहास मे आपका विशेष महत्त्व है। पर आप निष्पक्ष समालोचक एव निरे पुराण-पन्थी भी नहीं कहे जा सकते। आपके शिष्य १२ कहे जाते हैं। इनमे सर्व प्रसिद्ध सूरस्वामी कहे जाते है। इसके पश्चात् गिरधारीदास हुए। तत्पश्चात् यह परम्परा-निर्वाह न हो सका।

नांगी-सम्प्रदाय

मूल प्रवर्तक सन्त डेढराज का जन्म नारनौल मे धारुस गॉव मे स० १८२८ में हुआ। आपके पिता का नाम पूरन एव माता का नाम नानकी कहा जाता है। कुछ लोग आपकी 'मॉ' के नाम पर इस पन्थ का नामकरण मानते हैं। पर इसका प्रचार जन्मभूमि से ही

हुआ। आप वर्ण-व्यवस्था के कट्टर विरोधी थे। अतः आपके असख्य विरोधी हो गए। झज्झर मे वन्दी होने के पश्चात् गुड़गॉव तक प्रचार कार्य कर सं० १९०९ मे आपका देहान्त हो गया। आपके प्रधान शिष्य गगाराम थे, जिनके शिष्य सन्तराम हुए। आपके शिष्यो मे से भाई भगीरथदास का नाम प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय के शिष्य लोग 'राम' नामधारी निराकार परमात्मा को मानते है। ये लोग साम्प्रदायिक भावना को आश्रय न दे, सव धर्मों का समान रूप से आदर करते है। इसके अनुयायी स्त्री-पुरुष दोनो को समानाधिकारी वताते हैं और प्रार्थना मे भावावेशपूर्ण भाव दर्शाते है। इनका प्रधान मठ गुड़गॉव जिले के 'भिवाना' मे है। 'सत्य' के प्रति विशेष अस्था एवं शुद्धाचरण इस पन्थ की विशेषताएँ है। ईश्वर-पूजन मे समानाधिकार, व्यर्थ मूर्तिपूजन तथा ग्रन्थ-विशेष के प्रति आस्था न रखना इसके प्रधान नियम है।

राधास्वामी सत्संग

इसकी विशेषता इनके गुप्त आध्यात्मिक साधनाओं मे है। इसका सर्वप्रथम आरम्भ शुद्ध धार्मिक सस्था के रूप मे तीन गुरुओ तक रहा किन्तु वाद में व्यावसायिक रूप भी आगरे की दयालबाग शाखा ने धारण किया।

(१) लाला शिवदयाल सिंह खत्री स्वामीजी महाराज—इस सत्संग के मूल प्रवर्तक थे। आपका जन्म स० १८७५ मे दिलवाली सिंह के घर हुआ। आप अपने पिता की भाँति पहले नानक-पन्थ के ग्रन्थों का पाठ करते थे, परन्तु कालान्तर में तुलसी साहिब से प्रभावित हुए। आपकी ५, ६ वर्ष की अवस्था से ही आध्यात्मिक चिन्तन एव सत्संग की प्रवृत्ति थी। आपका विवाह 'राधाजी' के साथ हुआ था। आपने कुछ काल के पश्चात् ही अपना महाजनी व्यवसाय समाप्त कर, स० १९१७ से आध्यात्मिक उपदेश देना आरम्भ कर दिया। आपकी प्रसिद्धि से आकृष्ट हो साहिब-पन्थ के अनुयायी भी आपकी शरण मे आने लगे। आपके असख्य शिष्यों मे आपके भाई प्रतापसिंह भी एक थे। आपने 'सार वचन' (नज्म, नसर) नामक दो ग्रन्थो की रचना की जिसमे सुरतशब्दयोग को सर्वश्रेष्ठ वताकर मन शुद्धि का साधन वताया है। सं० १९३५ में स्वामी-बाग मे आपका देहान्त हो गया।

(२) राय सालिगराम साहब राय वहादुर 'हुजूर महाराज साहेब'—आपका जन्म सं० १८८५ में शिवभक्त राय बहादुर सिंह के घर हुआ। आप १९१५ में पोस्ट आफिस में हेड असिस्टेण्ट बने, तभी आप प्रताप सिंह से (चाचाजी) आदेश पा स्वामीजी महाराज से मिलकर प्रभावित हुए, तथा उनकी गुरुवत तन, मन, धन से अनन्य सेवा की। तदनन्तर गुरु के नाम पर ही 'राधास्वामी

वाग' लगवाया। गुरु के देहान्त के पश्चात् आपने उसी वाग में सत्संग की दृष्टि जोडकर गुरु के सम्मुख बैठने की पद्धति चलाई और अहर्निश परिश्रम कर उपदेश देते थे। आपकी गद्य रचनाओ में 'सार उपदेश', 'निज उपदेश', 'प्रेम उपदेश', 'गुरु उपदेश', 'प्रश्नोत्तर', 'युगल प्रकाश' एव 'प्रेमपत्र' मुख्य हैं तथा पद्य में 'प्रेमवानी' विशेष उल्लेखनीय है। आपने 'राधास्वामी मतप्रकाश' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अग्रेजी भाषा में लिखा है। स० १८९८ मे 'प्रेमविलास' मे आपका देहान्त हो गया, जहाँ कालान्तर मे 'हुजूरी वाग' लगाया गया।

(३) ब्रह्मशंकर मिश्र 'महाराज साहेब' आदि सन्त—आपका जन्म काशी के रामयत्न के घर स० १९१७ में हुआ। आप एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण कर, कुछ दिनो तक प्रोफेसर तथा एकाउण्टेण्ट-जनरल रहकर भी आध्यात्मिक साधना एव सत्संग मे निरत रहे। सं० १९३२ मे 'हुजूर साहव' से दीक्षा ग्रहण कर स० १९६४ में उत्तराधिकारी वन सत्संग कर स० १९६४ मे परमधाम सिधारे। आपकी रचनाओं में सच्चा धर्म, आध्यात्मिक उन्नति, सृष्टि विकास एव कर्मवाद की विस्तृत विवेचना है। आपके पश्चात् आपकी वहन 'वुआजी साहिवा' गद्दी पर बैठीं। आपने 'सुरतशब्दयोग' का अभ्यास बड़े मनोयोग से किया। आपके पश्चात् प्रयाग मे वावूजी साहव (माधव प्रसाद) गद्दी पर बैठे, पर आपके पुत्र योगेन्द्र तिवारी ने काशी मे गद्दी चलाई। आपकी दो पुस्तके 'सारभेद' तथा 'शब्दवानी' प्रसिद्ध हैं। 'महाराज साहेव' के शिष्य कामताप्रसाद चतुर्थ सन्तगुरु माने गए। आपने आध्यात्मिक विकास के साथ औद्योगिक उन्नति का केन्द्र 'दयाल वाग' स्थापित किया। महाराज साहेव के एक अन्य शिष्य महर्षि शिवव्रतलाल हुए, जिन्होने सवसे अधिक ग्रन्थ लिखे तथा अनुवादित किये। वुआजी साहिवा के पश्चात् माधवप्रसाद सिंह (वावू जी साहव) ने आगरे मे 'स्वामी-केन्द्र' चलाया, जिसकी 'दयालवाग' से प्रतिद्वन्द्विता रही। इनके अतिरिक्त कुछ उप सम्प्रदाय भी स्थापित हुए। स्वामीजी महाराज के भाई राय वृन्दावन ने 'वृन्दावनी सम्प्रदाय' स्थापित किया और राधास्वामी के स्थान पर सतगुरुराम नाम स्वीकार किया। इसी प्रकार जैमल सिंह वावू शामलाल ने भी इसके प्रतिकूल शाखाएँ चलाईं। वावा गरीवदास एव अनुकूलचन्द्र चक्रवर्ती अनुकूल रहे।

राधास्वामी का अभिप्राय परात्पर परमात्मा से है। इस मत का मूल रहस्य सृष्टि रचना सम्बन्धी विचारों मे निहित है। पिण्ड एव ब्रह्माण्ड को अनुकरण माना गया है। पिण्ड के ३ प्रदेश-पिण्ड, ब्रह्माण्ड एव

सत्संग का सन्त-मत

दयाल-देश माने है, जिसमे प्रथम भौतिक, द्वितीय मे चेतन

अश और तृतीय में शुद्ध चेतन है। इन ३ प्रदेशो के ७ उपखण्डो में उच्चतम परात्पर पद है, जिसका ज्ञान राधास्वामी दयाल के समय-समय पर नर रूपो में आनेवाले प्रतीको की सहायता से उपलब्ध होता है, अन्यथा वह गुप्त है। समस्त विश्वरचना का मूल 'सो आमी' तथा परमपिता है तथा वहाँ से चेतनधारा रूप प्रवाहित शक्ति 'राधा' जिसका सम्मिश्रित रूप 'राधास्वामी' है। अतः सन्त सत्‌गुरु द्वारा बताई 'जुगति' के आश्रय से सुरत-शब्दयोग के अभ्यास द्वारा अभीष्ट सिद्धि प्राप्त हो सकती है। साधक नेत्र बन्दकर मध्यबिन्दु पर विचार केन्द्रित कर 'राधा सो आमी' का उच्चारण कर क्रमशः घण्टिका ध्वनि सुनता हुआ 'अनाहत' शब्द का गुप्त एव अगम्य अनुभव करता है। यह सन्तमत सुमिरन, ध्यान, भजन (धारणा, ध्यान, समाधि) तीन साधनाओ का प्रयोग करता है। इस सत्सग की मुख्य साधना भक्तिप्रधान है, जिसमे शब्दरूप राधा-स्वामी एव सन्तगुरु की उपासना होती है। गुरु उपासना एव सेवा शब्दस्वरूप सत्त की उपासना है। भक्ति मे शरणापन्न भावना भी अनिवार्य है। दीनता, प्रपत्ति तथा प्रेम तीनों ही ग्राह्य हैं। इस पन्थ के चार मुख्य अग 'पूरागुरु' 'नाथ', 'सत्सग' एव 'अनुराग' है।

राधास्वामी का सर्वप्रथम प्रयोग हुजूर महाराज साहेब, अन्तःप्रेरणा से गुरु के नाम पर ही कर दिया। इनके गुरु केवल सतनाम का ही उपदेश करते थे। इस सत्संग का विकास एव उन्नति भी आपने ही अपनी तीव्र बुद्धि, विषय प्रतिपादन की अपूर्व शक्ति से की और सस्था को सुव्यवस्थित एव सगठित किया। तत्पश्चात् महाराज साहेब ने केन्द्रीय सभा के सगठन एवं सचालनार्थ विधान-निर्माण किया। इसमे निवृत्तिमार्ग आवश्यक नही है पर उसके लिए भी व्यवस्था है। इसके नैतिक नियम वही हैं जो भौतिक जीवन से निवृत्त कर जीव को आध्यात्मिक जीवन की ओर उन्मुख करे। सन्त सतगुरु एव चित्रादि के सम्मुख श्रद्धा प्रदर्शन प्रधान कर्त्तव्य है। इसका प्रचार भारत मे सर्वत्र है। इसकी आभ्यन्तरिक कार्य-प्रणाली, प्राणायाम रहित साधना का सारल्य और सद्व्यवहार तथा आध्यात्मिक जीवन मे समृद्धि की योजना इसके प्रति आकर्षण के प्रमुख अंग हैं।

तृतीय परिच्छेद

सन्तों का काव्यादर्श

किसी कवि की रचनाओ का आलोचनात्मक एव विवेचनात्मक अनुशीलन करने के पूर्व यह सर्वथा अपेक्षित है कि सर्वप्रथम उसके काव्यादर्श का अध्ययन कर लिया जाए। साहित्यकार के दृष्टिकोण, लक्ष्य के आदर्श का अध्ययन कर लेने से उसकी चिन्तन-पद्धति, विचार-शैली और जीवन-दर्शन स्वत. स्पष्ट हो जाता है। साहित्यकार एक जागरूक प्राणी होता है। उसकी चेतना, व्यापक दृष्टिकोण और दर्शन साहित्य के पृष्ठों में प्रतिबिम्बित होता है।

साहित्य (काव्य) जीवन का सुसस्कृत एव साध्य रूप है। साहित्य का आधार मानव-जीवन है। साहित्य जीवन की आलोचना एवं मापदण्ड है। साहित्य जन-जीवन एव समाज का उन्नायक है। साहित्य का जनता के प्रति महान् उत्तरदायित्व है। साहित्य का प्रयोजन एव जीवन का प्रयोजन अथवा उनके अन्तिम लक्ष्य मे परस्पर नैकट्य का सम्बन्ध है। यदि साहित्य जीवन से प्रभावित भी है, तो वही साहित्य जीवन-दर्शन के लिए उपयोगी तथ्यो एवं तत्त्वों की सर्जना भी करता है।

साहित्य के प्रयोजन के विषय में आचार्यों मे मतभेद है। आचार्य मम्मट के अनुसार यश, द्रव्य, व्यवहार-ज्ञान, दुःखनाशादि काव्य-रचना के मूल प्रयोजन हैं।[1] आचार्य मम्मट ने काव्य के स्वरूप मे गुण, अलकार एवं व्यग्यार्थादि की अनिवार्यता मानी है।[2] आचार्य मम्मट ने काव्य को लौकिक एव अलौकिक आनन्द के लिए श्रेयस्कर माना है। इससे स्पष्ट है कि लौकिक एव अलौकिक आनन्द काव्य के लिए महत्त्वपूर्ण है। कतिपय विद्वान् आनन्द को ही काव्य का मूल प्रयोजन मानते हैं।[3] भामह के मत से काव्य धर्म, अर्थ, काम, और

---

१ काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य परनिवृत्तये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे।
—काव्यप्रकाश, श्लोक २।

२ काव्यप्रकाश, ३–५।

३ सकल प्रयोजन मौलिभूत समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूत विगलितवेद्यान्तरमानन्द।
—सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ४५।

मोक्ष की प्राप्ति का साधन है।[१] 'साहित्य-दर्पणकार' भामह के प्रस्तुत कथन से पूर्णतया सहमत है।[२] भरत, आनन्दवर्धन एवं अभिनव गुप्त आदि विचारक नैतिकता एव धार्मिकता के विकास के लिए काव्य को प्रयोजनीय नही मानते। पाश्चात्य लेखको मे स्पिनगार्न के मत से काव्य का उद्देश्य शिक्षा एव आनन्द देना नहीं है, वरन् उसका लक्ष्य है अभिव्यक्ति।[३] स्पिनगार्न से साम्य रखनेवाला ब्रेडले का मत है। ब्रेडले के अनुसार काव्य स्वय अपना साध्य है, वह धर्म, सस्कृति और शिक्षा आदि का साधन नहीं है। टाल्स्टाय के अनुसार काव्य की मुख्य कसौटी नीति और धर्म है।[४] मैथ्यूआर्नल्ड का काव्यादर्श बड़ा उपयोगी और श्रेयस्कर है। वे काव्य को नैतिकता के वर्द्धन और विकास के लिए आवश्यक तत्त्व मानते है। मैथ्यूआर्नल्ड नैतिकता के प्रति विद्रोही एव उदासीन काव्य को जीवन के प्रति विद्रोही एवं उदासीन मानते हैं।[५] इलियट के मत से काव्य का नैतिकता से प्रमुख सम्बन्ध है। जो काव्य नैतिकता के विकास, सम्वर्द्धन, परिपोषण मे सहायक नहीं है, वह काव्य सार्थक और उपयोगी रचना नही है। टी० एस० इलियट के अनुसार कविता का नैतिकता, धर्म-भावना और सम्भवतः राजनीति से भी कुछ सम्बन्ध अवश्य है, यद्यपि हमे नहीं ज्ञात

१. धर्मार्थ काममोक्षेपु वैचक्षण्यकलासु च।
प्रीति करोति कीर्तिञ्च साधुकाव्य निषेवणम्॥
—सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ४५।

२ सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ४५।

३ *We have done with all moral judgement of art. Some said that poetry was meant to instruct Some merely to please, some to do both Romantic criticism first enunciated the principle that a art has no aim except expression, that its aim is complete when expression is complete, that beauty is its own excuse for being*

४ In every age and in every human society there exists a religious sense of what is good and what is bad common to that whole society, and it is this religious conception that decides the values of the feelings transmitted by art
—What is Art (Oxford) 128-129.

५ A poetry of revolt against morals, is a poetry of revolt against life a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life

कि वह सम्बन्ध क्या है।[१] आई० ए० रिचर्डस् का मत अशतः मम्मट से मिलता है। उसके अनुसार कवि अपनी कविता स्वान्तःसुखाय या उपदेश देने के लिए करते हैं, अथवा दोनों दृष्टिकोणों से भी।[२] काव्य रचना का मूलाधार 'स्वान्तः-सुखाय' है। प्रत्येक रचना के मूल मे कवि की अपनी अनुभूति विचार और भावनाएँ व्यक्त रहती है। इनको अभिव्यक्ति देकर कवि के हृदय का भार कम होता है और वह एक दिव्य आनन्द का अनुभव करता है। काव्य की रचना मूलतः स्वान्तःसुखाय ही होती है। वैसे उसे जन-समाज के कल्याण की भावना भी अपेक्षित होती है। पाश्चात्य विचारक प्लेटो, आरिस्टॉटिल, होरिस, दॉते, मिल्टन, एवं शैले भारतीय विचारक भरत, आनन्द वर्धन एव अभिनव गुप्त के अधिक निकट है। इस प्रकार उपर्युक्त विद्वानो के मतों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि एक वर्ग नैतिकता आदि के लिए काव्य को प्रयोजनीय मानता है, तो द्वितीय वर्ग इसके विरुद्ध है। एक वर्ग 'स्वान्तःसुखाय' काव्य को प्रयोजनीय मानता है, दूसरा वर्ग 'बहुजन हिताय'। पर इतना तो निश्चय है कि काव्य या साहित्य हमारी अनुभूतियों को तीव्र करने के लिए अत्यधिक प्रयोजनीय है। जीवन को समुन्नत और सुसंस्कृत तथा परिष्कृत बनाने मे काव्य का प्रमुख योगदान है।

भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानो के काव्यादर्शों एव काव्य-प्रयोजनों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि हिन्दी के सन्त-कवियों मे से किसी ने उपर्युक्त आदर्शों एव प्रयोजनो मे से एक को भी नहीं स्वीकार किया। सन्तों के काव्य से स्पष्ट है कि उन्हें लौकिक ऐश्वर्य एवं यश की लालसा नहीं थी। जिन सन्तों ने ससार एवं समाज को तुच्छ एव सारहीन समझकर उसका परित्याग कर दिया था, उनके लिए काव्य द्वारा व्यवहार की शिक्षा महत्त्वहीन थी। सन्तो ने रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह और क्रान्ति की। अतः शिव-अशिव, मागलिक-अमागलिक भावना से काव्य-रचना करना उनके लिए निःसार थी। सन्तो का काव्य इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने काव्य का कोई प्रचलित आदर्श नहीं ग्रहण किया। काव्य,

---

१. .. Poetry as certainly has something to do with morals and with religion, and even with politics perhaps, though we cannot say what

—The Scared Wood, 1928 Edn

२. The poets either wish to instruct or to delight or to combine the both

—Principles of Literary Criticism

काव्य-शास्त्र, छन्द, पिंगल आदि के नियमो का न उन्होंने अध्ययन किया था, न इन सब के प्रति कोई आस्था थी। इसके विरुद्ध उन्होने काव्य और काव्य-शास्त्र के अन्य आवश्यक तत्त्वों की निन्दा एव आलोचना की। परन्तु काव्य-शास्त्र के नियमो से अनभिज्ञ भी काव्य रचना कर सकता है, यह बात सन्तो ने प्रमाणित कर दी। सन्तो ने काव्य रचना करके यह स्पष्ट कर दिया कि काव्य के लिए तीव्र अनुभूति और चिन्तन की गहनता अपेक्षित है, न कि छन्द, अलकार, शब्द-शक्ति और अन्य काव्यगुण। सन्तो ने यह सिद्ध कर दिया कि भाव ही काव्य को आत्मा है और जब काव्य की आत्मा दृढ और उच्च है, तब फिर वाह्यावरण और अन्य उपकरण तो स्वतः जुट जाएँगे। सन्तो ने कविता की रचना सचेष्ट होकर नही की, न उन्होने काव्य-शास्त्र का अध्ययन ही किया था। फिर भी उन्होने कविता लिखी इसलिए वह उपेक्षणीय साहित्य नहीं है। ध्यानपूर्वक सन्त-साहित्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है, कि सन्तो के साहित्य मे उनके काव्यादर्शों की अभिव्यक्ति हुई है। सन्तों ने काव्य को कला की दृष्टि से नहीं देखा, न उन्होने काव्य एव कवि को समाज का सम्मान्य व्यक्ति ही माना है। पर उन्होने काव्य को स्वभावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, इसलिए उनका काव्य अध्ययनीय है। इन कवियों की रचनाओ मे उनके काव्य विषयक आदश निहित मिलते हैं।

देश की राजनैतिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियो के फलस्वरूप देश का साहित्य प्रत्येक युग मे नवीन रूप ग्रहण करता गया। सिद्ध-काव्य से लेकर सन्त-काव्य तक हिन्दी-साहित्य की धारा अनेक बार एक नवीन दिशा की ओर प्रवाहित हुई। फलतः धारा के प्रत्येक नवीन परिवर्तन पर काव्यादर्शों मे परिवर्तन परिलक्षित होता है। हिन्दी-कविता के आदि काल से सन्त-काव्य तक कविता मे दो विशेष प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती है। प्रथम प्रवृत्ति है धार्मिकता और द्वितीय चारण प्रवृत्ति है। अतः इस सम्पूर्ण काव्य का आदर्श धार्मिकता तथा वीरों एव सामन्तो की प्रशसा और उसका कला विपयक आदर्श सस्कृत काव्य तथा सस्कृत काव्य-शास्त्र है।

सिद्ध-युग सन् ७६०-१३०० ई० तक माना जाता है। इतिहासकारों ने इसे हिन्दी-काव्य का आदि-युग माना है। सिद्धों के काव्य को देखने से प्रकट होता है, कि उनकी दृष्टि में काव्य-शास्त्र विपयक कोई स्पष्ट विचार नहीं था। इन कवियो ने स्वविचार अभिव्यक्ति एव अपने सिद्धान्तो को जनता तक पहुँचाने के हेतु काव्य का आश्रय ग्रहण किया। सरल भापा में रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति, योग क्रियाओं का वर्णन एव बाह्याडम्बरों की आलोचना करके धर्म के

सहज स्वरूप की अभिव्यक्ति ही इन सिद्धों का उद्देश्य था। सामान्यतया इस युग के अधिकांश कवि संस्कृत कवियों के काव्य एवं काव्य-शास्त्र के आदर्श का परिपालन करते हैं। इनमें से कुछ कवियों ने रामायण, महाभारतादि को भी आदर्श माना है। स्वयम्भू ने इसी आदर्श से प्रेरित होकर 'रामायण' और 'हरिवंशपुराण' की रचना की और पुष्पदन्त ने 'महापुराण', 'जसहर चरिउ', 'णायकुमार चारिउ' आदि। 'रामायण' की रचना प्रारम्भ करने के पूर्व स्वयम्भू ने तुलसीदास की भाँति आत्महीनत्व, काव्य-कला, व्याकरण, पिंगल अलंकार, छन्दादि से अनभिज्ञता प्रकट की है। कवि के शब्दों में 'स्वयम्भू बुद्धिमानों से नम्र निवेदन करता है कि मेरे सदृश अन्य सुकवि नहीं है। मुझे व्याकरण का ज्ञान नहीं है, न वृत्तिसूत्र वर्णन की शक्ति ही रखता हूँ, न पाँच महाकाव्य सुने हैं, न भरत के शास्त्र से परिचित हूँ, न छन्दों के लक्षणों का ज्ञाता हूँ, न पिंगल का विस्तार ज्ञात है, न भामह एवं दण्डी लिखित अलंकार से ही परिचित हूँ।'[१] अपने को काव्य के समस्त गुणों से विहीन उद्घोषित करते हुए स्वयम्भू को अलंकार, छन्द, समास आदि का भला ज्ञान था। उन्होंने काव्य की धारा के दोनों कूलों पर लोक भाषा को उज्ज्वल तट माना है। इससे स्पष्ट है कि स्वयम्भू लोक-भाषा को काव्य के लिए विशेष उपयोगी मानते थे। इस दृष्टि से कवि का भाषा विषयक यह काव्यादर्श महत्त्वपूर्ण है :—

अक्खर-वास-जलोह-मणोहर। सुयल कार-छन्द-मच्छोहर॥
दहि - समास - पवाहा - वंकिय। सक्कय-पुलिणा-लंकिय॥
देसी-भासा-उभय-तडुज्जल। कवि दुक्कर-घण-सद्द-सिलायल॥
अत्थ-बहल-कल्लोला णिट्ठिय। आसा-सय सम-ऊह-परिट्ठिय।
राम-कहा सरि एंह सोहन्ती। ... .॥

—हिन्दी-काव्य-धारा, पृ० २६।

अर्थात् अक्षर जिस में मनोहर जोंक है, सुन्दर अलंकार, छन्द मछलियाँ हैं; दीर्घ समास वक्रिम जल प्रवाह है। संस्कृत-प्राकृत के पुलिन बने हुए हैं, देशी भाषा के दो उज्ज्वल तट हैं, कवियों के हेतु दुष्कर घने शब्दों का शिलातल

१. बुह-यण सयंभु पइ विण्णवइ। महु सरिसउ अण्ण णाहि कुकइ।
वायरणु कयाइ ण जाणियउ। णउ वित्ति-सुत्त वक्खाणियउ॥
णा णिसुणिउ पञ्च महाय कव्वु। णउ भरहु णलक्खणु छंदु सव्वु।
णउ बुज्झिउ पिंगल पच्छारु। णउ भामह दण्डियु, लंकारु॥

—हिन्दी-काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० २२।

है। अनेक अर्थोंवाली कल्लोले हैं; सैकडो आशाओ के समान तरगे उठती हैं; राम-कथा की सरिता इस प्रकार शोभित है।

उपर्युक्त उद्धरण इस बात के पोषक है कि स्वयम्भू संस्कृत महाकाव्यो के काव्यादर्श के पालक थे। हॉ, लोक-भाषा को इतना महत्त्व प्रदान करना कवि की मौलिकता एव नवीनता थी। स्वयभू के अनुसार सुकवि वही है जो अपनी भाषा मे काव्य रचना करे :—

कइ अत्थि अणेअ-भेअ भरिया।
जे सुयण सहासहिं आयरिया॥

—हिन्दी-काव्य-धारा, पृ० २४।

सिद्ध और जैन कवियो मे अनेक ऐसे हुए हैं, जिन्होने पण्डित, अक्षर ज्ञान, ग्रन्थ-रचनादि की बडी निन्दा की है। इन कवियो के समक्ष ग्रन्थ-रचना मूढता है। कारण कि जिस ग्रन्थ-रचना से परम तत्त्व के दर्शन न हों, उस रचना का अस्तित्व सारहीन है। सरहपा[1], देवसेन[2], योगीन्दु[3], आदि इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। रामसिह ने ग्रन्थ की रचना करनेवाले पण्डित की बडी तीव्र आलोचना की है।

पंडिय पंडिय पंडिया कण छंडिवितुस कडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठोसि, परमत्थु ण जाणहि मूढासि॥[4]

सिद्ध-युगीन कवियो में पुष्पदन्त, अब्दुर्रहमान, बब्बर, अज्ञात कवि आदि ने जनता की दशा, गरीबी, अकाल आदि का भी वर्णन किया है। इससे ज्ञात होता है कि इन कवियो ने काव्य को जीवन के लिए प्रयोजनीय माना था। इतना ही नहीं, इन कवियों मे यह भावना भी जाग्रत थी कि कविता जन-जीवन का चित्र है। इस प्रकार सहज सरल शैली मे आडम्बर रहित ढंग से स्वभावनाओं की देशी भाषा मे अभिव्यक्ति ही सिद्ध-जैन कवियो का काव्यादर्श था।

इन सिद्ध-कवियों के पश्चात् नाथ-कवियो का काव्य विचारणीय है। गोरखनाथ नाथ-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि कवि है। गोरखनाथ के अनुसार वेद, किताब, कविता, साखी और बानी तत्वज्ञान प्राप्त करने मे सहायक नहीं, वरन्

१ हिन्दी-काव्य-धारा, पृ० ४।
२. वही, पृ० १४३।
३. वही, पृ० १७४।
४ वही, पृ० २४८।

बाधक हैं। परब्रह्म का ठीक निर्वाचन करने में ये किसी प्रकार सहायक नहीं है। ये समस्त उसे आच्छादन के नीचे ले आए है। इनके द्वारा वह सत्य रूप अस्पष्ट हो जाता है।[१] इसी प्रकार अनेक स्थलों पर कविने बानी, साखी के लेखक, ग्रन्थों के रचयिता को सम्मानित व्यक्ति नहीं माना है। कवि के अनुसार ये स्वतः भ्रम मे पडे हुए जीव है और भ्रम के प्रचारक हैं। इससे स्पष्ट है कि 'नाथ सम्प्रदाय के योगियो' ने काव्य को उच्च कला नहीं माना है। काव्य का उनकी दृष्टि मे कोई महत्त्व भी नहीं था। इन कवियो ने भाषा के विषय मे भी कुछ नहीं कहा है। पर इनकी कविता तत्कालीन जनता के हेतु अत्यधिक सरल भाषा में व्यक्त हुई है। नाथ-कवियो की रचना का आदर्श रहस्यवाद, लौकिक तत्वो की तीव्र आलोचना एव पारलौकिक तत्व की भक्ति का चित्रण करना था। इनमे शब्दों के प्रयोग की कला एवं कौशल तथा माधुर्य निम्न-कोटि का है।

शब्दों के प्रयोग की कला एवं कौशल तथा उच्च कोटि का माधुर्य तो विद्यापति की कविता मे उपलब्ध होता है। विद्यापति की काव्य-रचना का आदर्श प्रेम एव शृगार है। विद्यापति ने एक सजग कवि की भाँति अपने काव्य की रचना की। स्वयम्भू की भाँति उन्होने आत्म-लाघव नहीं प्रदर्शित किया। उन्होंने अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए काव्य लिखा। एक पद की रचना करते हुए विद्यापति ने लिखा है कि :—

सकल पाप कला परिच्युति,
सुकवि विद्यापतिकृत स्तुति,
तोषिते शिवसिंह भूपति,
—कामना फलदे।[२]

इससे स्पष्ट होता है कि विद्यापति काव्य को कल्याण देनेवाला तत्त्व भी मानते थे। शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विद्यापति ने अपनी पदावली की रचना की। वे काव्य को ईश्वरदत्त प्रतिभा मानते थे। विद्यापति के मत से काव्य का चरम उद्देश्य नागरों, रसिक या श्रीमानों का मनोरंजन है।[३] विद्यापति ने काव्य के हेतु लोक-

१ वेद कतेब न षाणीं बाणी। सब ढकी तलि-आणी॥
गगन सिषर महि सबद प्रकास्या। तहँ बूझै अलष बिनाणीं।
—गोरखबानी पृ० २-४।

२ विद्यापति-पदावली-पद, १३०।

३. बाल चन्द विज्जावइ भाषा। दुहुँ नहि लागइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहई। ई निच्चय नायर मन मोहई॥
—कीर्तिलता, प्रथम पल्लव।

भापा को सर्वाधिक उपयुक्त माना है। लोकभाषा मे अद्वितीय माधुर्य और मोहकता होती है, इसीलिए विद्यापति ने 'देसिल बअना' को काव्य का माध्यम बनाया है .—

सक्कय वांणी वुहयन भावई पाउंअ रस को मम्म न पावई।
देसिल वअना सब जन मिट्ठा तें तैस न जम्पाओ अवहट्ठा ॥
—कीर्तिलता, प्रथम पल्लव।

अर्थात् सस्कृत केवल विद्वानो की प्रिय भाषा है, प्राकृत भापा में रस का मर्म नही उपलब्ध होता है, (पर देशी भापा सभी को सहज प्रिय प्रतीत होती है अतः मै) अवहट्ठा मे स्वकाव्य की रचना करता हूँ। उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि का काव्य विपयक आदर्श लोकभापा है और वह उसे श्रीमानो के मनोरजन करने का साधन मानता है। अतः चमत्कार उसका अभिन्न तत्त्व है।

विद्यापति जहाँ एक ओर काव्य को ईश्वरदत्त प्रतिभा और एक विशेष कला मानते है, उसके विपरीत निर्गुण-धारा के प्रवर्तक सन्त कबीर कविता को निःसार वस्तु मानते है। कबीर ने कवि और कविता के विषय में कुछ अधिक नही कहा पर उनके काव्य मे उपलब्ध दो-तीन साखियाँ प्रमाणित करती हैं, कि कबीर की दृष्टि मे कवि सम्मान्य व्यक्ति नही था। कारण कि वह तत्त्व को त्याग-कर सारहीन पदार्थों में रमा रहता है। कबीर कवि को मृत समझते थे :—

'कवि कवीने कविता मुये'।

कबीर ग्रन्थ-रचना और काव्य-लेखन को व्यर्थ परिश्रम समझते थे। कारण कि इसके द्वारा कभी कोई परमतत्त्व को प्राप्त करनेवाला पण्डित न बन सका।[१] कबीर प्राकृत विपयो पर काव्य रचना के लिए लेखनी उठाने के बहुत विरुद्ध थे। वे कविता को जग जजाल के गुण-गान का माध्यम बनाने के विरोधी थे। उनकी दृष्टि मे वही वास्तविक कवि है जो ब्रह्म के साक्षात्कार का गायन अथवा रचना करे। कवि के शब्दों मे ही :—

जग भव का गावना का गावै।
अनुभव गावै सो अनुरागी है ॥

कबीर के काव्यादर्श की दृष्टि से निम्नलिखित पक्तियाँ पठनीय होंगी :—

प्रेमभगति ऐसी कीजिए, मुखि अमृत बरिखै चंद।
आपहि आप विचारिये, तब केता होइ अनन्द रे ॥

१. "पढि पढि पोथी जग मुआ पडित भया न कोइ।"

तुम्ह जिनि जानौं गीत है, यह निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधक सार रे ॥[1]

इनमें से तृतीय पंक्ति विशेष ध्यान देने योग्य है। कबीर स्पष्टतया कहते हैं कि "'केवल' ब्रह्म की भावना को व्यक्त करने के लिए मैंने इन पंक्तियों की रचना की है। यह कविता नहीं है वरन् आत्म-साधना का सार है।"

भाषा के विषय में भी कवि का अपना आदर्श है। कबीर काव्य की अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत गर्भित भाषा की तुलना में लोकभाषा, या दैनिक जीवन में बोल-चाल की भाषा को अधिक उपयोगी समझते थे। संस्कृत एक सीमित समूह की भाषा है, अतः उससे केवल कतिपय व्यक्ति लाभ उठा सकते हैं। परन्तु देशी-भाषा जनता की भाषा है, अतः वह सभी के लिए सुगम एवं सरल सिद्ध हो सकती है। कबीर संस्कृत को कूप जल के समान सीमित मानते थे और भाषा (जन साधारण की बोली) को वे सरिता के स्वच्छ एवं स्वस्थ जल के समान सर्व उपयोगी मानते थे :—

संसकीरत है कूपजल भाखा बहता नीर।

अतः स्पष्ट है कि कबीर स्वाभाविक सरल भाषा को ही काव्य-रचना का उपयुक्त माध्यम मानते थे। कबीर साहित्य और कला को जनता से दूर की वस्तु नहीं मानते थे। भाषा-आदर्श यह सिद्ध करता है कि कबीर कला को जन-जीवन से कभी भी भिन्न नहीं मानते हैं। काव्य और कला जनता के नैतिक स्तर और जीवन की धारा को व्यवस्थित करने का एक अमूल्य साधन है। जो भाषा या काव्य जनता की पहुँच से दूर है, उसे वे संसार के हेतु उपयोगी नहीं मानते हैं।

सन्त-कवि नानक शब्दी और साखी रचना को ब्रह्म के प्रति वास्तविक प्रीति स्थापित करने में बाधक मानते हैं। उनके मत से शब्दों और साखियों से अभिव्यक्त प्रेम वास्तविक नहीं है, वह केवल वाह्य दिखावा है। छन्दों में हृदय के सच्चे भावों की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। इसीलिए इनका रचयिता निश्चय ही यमपुर में दुःख का भागी बनता है। शब्दों व साखियों की रचना में प्रवृत्त मानव व्यर्थ ही अपना समय (हरि नाम स्मरण के बिना) नष्ट करता रहता है।

शब्दन साखी सची नहीं प्रीति।
जमपुर जाँहि दुजों की रीति॥

—प्राण-संगली, पृ० २४।

---

१. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ८९।

इसी प्रकार नानक ने पुस्तक ज्ञान, वेद, कतेब आदि की निन्दा अनेक साखियो से की है[1]। इससे स्पष्ट है कि कवि की दृष्टि मे काव्य रचनादि का महत्त्व नही है। सम्भवतः नानक के समकालीन अथवा पूर्ववर्ती कवि काव्य को ख्याति, यश, नाम आदि प्राप्त करने का साधन मानते थे और भॉति-भॉति के भावों की अभिव्यक्ति करके महत्त्व प्राप्त करने मे सफलीभूत हो रहे थे। इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कवि ने शब्द-साखी के रचयिता कवि की अन्तिम दुर्दशा का चित्र "जमपुर जाहि दुखॉ की रीति" मे अकित किया है।

सन्त-कवि मलूकदास का काव्यादर्श कबीर और नानक की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। कवि के अनुसार भाषा और छन्द के सॉचे मे साखियो को ढालना न तो वास्तविक कवित्व शक्ति का परिचायक है, न दृढ एव सत्य प्रेम का ही स्थापक है। फिर ऐसे निष्प्रयोजन काव्य से क्या लाभ है। जो काव्य न हृदय की सच्ची अनुभूति ही माना जा सकता है, न कला की दृष्टि से उच्च, उससे किसका कल्याण हो सकता है।[2] मलूकदास प्राकृत विषयो पर काव्य-रचना को हेय समझते हैं। कवि के मतानुसार यदि काव्य-रचना करना ही है तो उस ब्रह्म की प्रशसा एवं गुणगान मे करना चाहिए जिसके आधार पर ससार मे अस्तित्व है:—

> अदम कवित्त का जिसकी कबिताई करूँ,
> याद करूँ उसको जिन पैदा मुझे किया है।
> गर्भ बास पाला आतस में नहिं जाला,
> तिसको मै बिसारूँ तो मैं किसकी आस जिया हूँ॥[3]

मलूकदास की दृष्टि मे वही रचना कविता है जिसमे ब्रह्म का गुणगान हो। अतः लेखक का काव्यादर्श ब्रह्म का गुणगान मात्र है।

सन्त-कवि जगजीवन साहब ने अपनी रचनाओ मे वेद, पुराण, ग्रन्थ आदि की कटु निन्दा की है। उनके अनुसार बिना भजन, बिना भक्ति सब निःसार

१ वेद कतेब तिनि मोहिआ से फूक सुणावहि लोइ।
नरक सुर्ग पत्थर दि सै चिहु गुण सहसा होइ।
पूछहुँ वेद पढतिआँ विणु नावै मुठी रोई॥
—प्राण-सगली, पृ० २१७।

२. भासा छन्द जुटाय वैठे साखि वनाय।
सन्तो यह तो प्रेम नीमान न आय॥
—शब्द सग्रह।

३. मलूकदास की बानी, पृ० ३१।

है चाहे काव्य-रचना हो या ग्रन्थ-रचना। अनेक पुराणों का पारायण करता हुआ, अहर्निश "कविताई" करता हुआ, मानव, बिना ब्रह्म के ज्ञान के निःसार है। तत्व के अभाव मे कवि व्यर्थ ही तत्व-रहित पदार्थों मे फँसे रहते है :—

पढ़ै पुराण ग्रन्थ रात दिन करै कविताई सोई।
ज्ञान कथै शब्द कहै कछु तबहू भक्ति न होई॥

—शब्द सग्रह, पृ० ७५।

तुक जुटाकर काव्य की रचना कर लेना कठिन कार्य नहीं है। परिश्रम एवं लगन समस्त कठिनाइयों का हल है। परन्तु जिस शब्द रचना से प्रेरित होकर साधक निशि दिन ब्रह्म की आराधना मे प्रवृत्त हो जाय वही काव्य सार्थक काव्य है, और उसी कवि का प्रयास सफलीभूत कहा जा सकता है।[1] ज्ञान उस दिव्य शक्ति की कृपा बिना नहीं प्राप्त हो सकता है चाहे कविताई करने मे मानव तन-मन को ही क्यो न नष्ट कर डाले।[2] जिन व्यक्तियो के हृदय में सत्य नाम के प्रति प्रेम नहीं है वे भाँति-भाँति से वाह्याडम्बरों के द्वारा उस अभाव की पूर्ति करते है। ब्रह्म से सहज प्रीति स्थापित करते ही भेष आदि का भ्रम विनष्ट हो जाता है और भक्ति अपने शुद्ध रूप मे निखर आती है। जगजीवन साहब के अनुसार जिस प्रकार भेष के वाह्याडम्बर माला, तिलकादि हैं, उसी प्रकार वाणी के वाह्याडम्बर है शब्द, साखी एव कविता आदि। वस्तुतः ये नि.सार पदार्थ है। इनका परित्याग करके ही शुद्ध, सहज भक्ति के द्वारा ब्रह्म की आराधना सम्भव है :—

साधो भेष बाँधि सकिलाने।
रहे भेष भेद तब छूटहि सहज रीति मन जाने।
जबते माला कंठी पहिरी गर्ब भयो इतराने।
साखी शब्द बहुत सिखि लीन्हिनि वाद विवादहि ठाने।

—शब्दसागर, पृ० १६३।

कवि कविता को विवाद एव वाह्य प्रदर्शन का एक साधन मानता है, जो कभी भी साधना में सहायक नहीं हो सकती है :—

---

१ रानि दिन छिन नाहि दूरै भक्त सोई अहै।
जगजिवनदास सन्त कोई कोई शब्द की गति कहै॥
—श० सा०, पृ० ६९।

२ गुरु बिनु कृपा भक्ति नहि होई।
ज्ञान कथि कवि पढ़ै पण्डित टारति न मन खोई।
—श० सा०, पृ० ७८।

कलि महँ कठिन विवादी भाई
कानि सन्त्र की मानत नाहीं मन आवै तस गाई।
वहु विद्या पढि शब्द साखी जहा तहा गोहराई।
दाम काम रस वसनि सुवासर रचि वहु भेष बनाई॥
करके स्वांग पुजावहिं सवते नहीं विवेक करि जाई।
विज्ञानी ज्ञानी कविता में नाम दीन्ह विसराई॥

—शब्द सागर, पृ० १६३।

उपर्युक्त उद्धरणो से जगजीवनदास का काव्यादर्श परिलक्षित होता है। कविता को जगजीवनदास साधना के लिए वाधक एव वाह्याडम्बर मानते है। इन वाह्याडम्बरो से आच्छादित होने के कारण हम साधना का वास्तविक स्वरूप पहचानने मे असमर्थ हो जाते हैं।

सन्त-कवि शिवनारायण साहव का काव्य आदर्श ब्रह्म के गुणो की अभिव्यक्ति है। ब्रह्म की स्तुति से पूर्ण भापा ही कवि के मत से कविता है :—

कविता अस्तुति पूरन भाखा।
शिवनारायण चित-से राखा।

—गुरु-अन्यास, पृ० १९।

शिवनारायण साहव ने उसी सावदी और कविता को कल्याणकारी माना है जिसमे सन्तो द्वारा ब्रह्म का गान हुआ हो :—

सन्त सवद सुनि भौ अनुरागा।
विनु गुरु भक्ति मुक्ति किमि लागा॥

—गुरु-अन्यास, पृ० ९।

'मलूकदासी-सम्प्रदाय' के प्रख्यात कवि-सन्त दु.खहरनदास ने अपनी काव्य-रचना का कारण निम्नलिखित पक्तियो मे व्यक्त किया है :—

मोहि जस ग्यान रहा हिय मॉही।
कहेउ सभै कीछु छाड़ेयु नाही॥
एक एक अच्छर खोजि वनावा।
मुरुखन दुख पण्डितन सुख पावा॥

—पुहुपावती, पृ० ५।

प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि पण्डितो को सुख देने के हेतु उन्हे ज्ञान से अभिज्ञ कराने के हेतु कवि ने अपने काव्य की रचना की। हृदयस्थ ज्ञान की

अभिव्यक्ति के हेतु कवि ने स्वकाव्य की रचना की है। यही कवि का काव्यादर्श है। कवि ने उन्ही शब्दों (काव्य) को अमर माना है जो उस अमर तत्त्व का गुणगान करे। इससे विपरीत शब्द और काव्य अस्थायी और सन्तो के लिए अनुपयोगी होते हैं :—

अमर सो जाकर जग साखा।
कै कुछु अमर शब्द जो भाषा॥
तेहिते शब्द कहे अब लीन्हा।
भकुराही जाय जगत महं चीन्हा॥

—पुहुपावती पृ० ५

पल्टू साहब साखी, सबदी और काव्य को 'परपच' मानते है, चाहे वह काव्य-भक्ति की धारा से परिप्लावित ही क्यों न हो। जब हृदय मे शुद्ध भक्ति है तो फिर अन्य बाह्य साधना का क्या महत्त्व है। पल्टू कविता रचना को किसी प्रकार भी साधना मे उपयोगी एव सहायक नहीं मानते हैं :—

एक भक्ति मैं जानौं और झूठ सब बात।
और झूठ सब बात कौ हठजोग अनारी।
ब्रह्म ढोंग वो लेय काया को राखै जारी॥
प्रान करै आयाम कोई फिर मुद्रा साधे।
धोती नेती कौ कोई लै स्वासा बाधे॥
उनमुनि लम्बे ध्यान करै चौरासी आसन।
कोई साखी सबद कोई तप कुम्भ कै डासन॥
पल्टू सब परपंच है करै सो फिर पछितात।
एक भक्ति मैं जानो और झूठ सब बात॥

—पल्टू साहिब की बानी, पृ० २६।

कोइ जोग जगत की साधन में, कोई बैराग लै ढूढत है।
कोइ सबद साखी बनाय कहे, जोरि जारि बैठि कै गूँथत है॥
कोइ बेद पुरान सिद्धात पढ़ै, कोई बैठिके निर्गुन गूनत है।
पल्टू फकीर की राह जुदी, इन बातो के ऊपर रत है॥

वही, पृ० २६।

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि पल्टू कविता को प्रपच मानते हैं। कविता-लेखन में मनुष्य का चित्त और शक्ति ब्रह्माराधना मे विलग रहता है। निश्चय ही साधना मे बाधक। इस प्रकार की कविता सन्तों मे समादृत नहीं हो सकती

है। पलटू साहब कागज, कलम और मसि के माध्यम से लिखित कविता अथवा रचना के समर्थक नहीं है। पलटू साहब उसी व्यक्ति को पण्डित या कवि मानने को प्रस्तुत है जो लेखन के लिए अनिवार्य समस्त पदार्थों के अभाव में भी लिखने में समर्थ हो सके। जब नि:अक्षर समस्त अक्षरों में रहा है, तब फिर हाथ में लेखनी ग्रहण करने से कोई लाभ नहीं है।[१]

रैदास की दृष्टि में कवि, कुलीन और पण्डितादि में अहम्मन्यता का उदय होने लगता है। अतः ये सभी त्याज्य है। ये मति भ्रष्ट और संशय से ग्रस्त रहते है। वास्तविक ज्ञान के अभाव में सत्य तत्व से अपरिचित ही रह जाते है। रैदास का काव्यादर्श आत्मा के सद्स्वरूप का दर्शन करना है। कवि जब स्वतः विकारों से ग्रस्त है, तब वह दूसरों को प्रकाश क्या प्रदर्शित कर सकेगा।[२] कवि के शब्दों में हरि कथा की अभिव्यक्ति के अभाव में यह पाण्डित्य और बानी (कविता) व्यर्थ है :—

थाथा पण्डित थाथी बानी।
थाथी हरि बिनु सभै कहानी ॥[३]

सन्त-कवि बुल्ला साहब की दृष्टि में न तो कवि का कोई विशिष्ट स्थान है, न बहुत ज्ञान से पूर्ण कविता ही आदर की वस्तु है। ज्ञान के प्रदर्शनमात्र से कोई बड़ा अथवा महत्त्वपूर्ण कवि नहीं बन जाता है। महत्ता वास्तविक रूप में

१ बिनु कागद बिनु अच्छरै बिनु मसि से लिखि देय ॥
बिनु मसि से लिखि देय सोई पण्डित कहवावै।
बिनु रसना कहि यह अकथ की कथा सुनावै ॥
नि अच्छर अब मिला अच्छर को क्या ले करना।
हीरा लागा हाथ पोत की कौन मरछना ॥
पलटू पण्डित सोई है कलम हाथ नहिं लेय।
बिनु कागद बिनु अच्छरै बिनु मसि से लिखि देय ॥
—पलटू साहब की बानी, पृ० ७९।

२. राम बिन संशय गाँठि न छूटै।
काम किरोध लोभ मद माया इन पचन मिलि लूटै ॥
हम बड़ कवि कुलीन हम पण्डित हम जोगी सन्यासी।
ज्ञान गुनी सूर हम दाता यहु कहै मति नासी ॥
पढ़े गुने कछु समुझि न परई जौ लों भाव न दरसै।
लोहा हिरन होइ धो कैसे जो पारस नहिं परसै ॥
—रैदास की बानी, पृ० ८।

३ वही, पृ० २६।

विश्वास और अनुभव के कारण है। जिसके हृदय मे विश्वास का अकुर नहीं और जिसने ब्रह्म का दर्शन नहीं किया, उसका अनुभव नहीं प्राप्त किया उसके लिए काव्य-रचना अथवा न लिखना सभी एक ही सदृश है। काव्य तो वाह्य पदार्थ है, आभ्यन्तरिक सौन्दर्य एव समृद्धि आदि शक्ति का अनुभव है—

का भयो शब्द के कहे बहुत करि ज्ञान दे।
मन परतीत नहीं तो कहा जम जान दे।
बुल्ला साहब की बानी, पृ० २५।

इसी प्रकार धनी धर्मदास,[1] दरिया साहब (मारवाड़वाले)[2], गुलाल साहब[3], सहजोबाई[4] आदि सन्तो ने वेद, कतेब, और पुस्तक-ज्ञान तथा काव्य आदि की निन्दा की है। इन सभी सन्तो ने कहा कि कवि व्यर्थ ही असार कार्यों मे सलग्न रहता है। तत्त्व की बात है, ब्रह्म का ध्यान करना, सो वह भूलता जा रहा है। तत्त्व को त्यागकर तत्त्वरहित पदार्थों मे रमना वैसे ही है जैसे हीरा छोडकर पोत के लिए हाथ बढ़ाना।[5] इसीलिए समय और शक्ति का ह्रास न करके, हर समय उसी ब्रह्म के ध्यान मे व्यतीत करना चाहिए।

सुन्दरदास सभी सन्तो मे सर्वाधिक शिक्षित और भाषा-विज्ञ थे। उन्हे छन्द, पिंगल, अलकारादि का भला ज्ञान था, इसका समर्थन उनके काव्य मे प्रकट होता है। सुन्दरदास को छन्द-भग और काव्य के गुण दोषादि का भी ज्ञान था, जैसा कि उनके काव्य से ज्ञात होता है। कवि के ही शब्दो से उसका काव्यादर्श निम्नलिखित है :—

नख शिख शुद्ध कवित्त पढ़त अति नीको लग्गै।
अंग हीन जो पढ़ै सुनत कविजन उठि भग्गै॥
अक्षर वटि वढ़ि होई पुडावत नर ज्यौं चल्लै।
मात घटे वढ़ि कोइ मनौ मतवारौ हल्लै॥
औढेर काँण सो तुक अमिल अर्थहीन अर्धो यथा।
कहि सुन्दर हरिजस जीव है हरिजस विन मृत कहिं यथा॥

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि काव्य मे शुद्ध कवित्त, मोहकता, सरसता, तुकान्तता आदि आवश्यक समझता है। कवि की दृष्टि मे काव्य मे

१. धर्मदास की शब्दावली, पृ० ८, ७९।
२. दरिया साहब मारवाड़ वाले की बानी, पृ० ७, ९, १२।
३. गुलाल साहब की बानी, पृ० ८० और १३०।
४. सहजोबाई की बानी, पृ० ६८।
५. पल्टू की बानी, पृ० ७९।

अर्थ-गाम्भीर्य भी अपेक्षित है। परन्तु इन सब गुणो के होते हुए 'हरिजस' के अभाव में काव्य निःसार है। जिस प्रकार प्राणविहीन शरीर आकर्षण रहित हो जाता है उसी प्रकार 'हरिजस' के बिना काव्य फीका और नीरस प्रतीत होता है।

काव्य (पिंगल) शास्त्र मे मगणं, नगण, भगण, यगण, सगण, तगण, जगण, रगण आदि को विशेष महत्त्व दिया गया है। सुन्दरदास को पिंगल के इस प्रकरण का सम्यक् ज्ञान था। कवि सत्काव्य के लिए इन्हे आवश्यक मानता है। परन्तु इन विविध गणो को कवि ने आध्यात्मिक जगत् मे किस कौशल से घटित किया है यह विचारणीय है।

माधो जी हैं मगण यहै है भगण कहिज्जै।
रगण राम जी होइ सगण सगलै सु लहिजै॥
तगण कहैं तारक्क जरांत सु जगण कहावै।
भूधर भणिये भगण नगण सुनि निगम बतावै॥
हरिनाम सहित जे उच्चरहि तिनकौं सुभगण अट्ठ हैं।
यह भेद जके जानैं नहीं सुन्दर ते नर सट्ठ हैं॥
—सुन्दर-ग्रन्थावली-भाग २, पृ० ९७२।

सुन्दरदास के उपर्युक्त दोनो उद्धरण देख जाने के अनन्तर यह निश्चित हो जाता है कि कवि काव्य-शास्त्र की दृष्टि से कविता को शुद्ध एव सरस बनाने का समर्थक है, पर साथ ही काव्य की आत्मा 'हरि यश गान" का भी उसमे समावेश अनिवार्य है। अतः सुन्दरदास का काव्यादर्श सर्व प्रथम ब्रह्म का यशोगान है, तदनन्तर काव्य-सौन्दर्य, काव्य सरसता आदि। सन्तों के काव्यादर्श को निश्चित करने के लिए सुन्दरदास के उक्त उद्धरण बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। ये उदाहरण सिद्ध करते है कि सन्तो का प्रतिनिधि एव सर्वाधिक शिक्षित कवि भी काव्य की आत्मा ब्रह्म का गुणगान ही मानता है, चमत्कार और कला का प्रदर्शन नहीं, जैसा कि रीति-कालीन कवियो ने किया था।

प्रसिद्ध 'परिचयी' लेखक सत पेमदास काव्य का आदर्श लोक-कल्याण मानते हैं। वे कहते हैं :—

वकता श्रोता पुरिप की पेमदास बलिजाय।
कहि सुनि पातिग सब कटै दोऊ परम गति पाइ॥[१]

सत अनन्तदास काव्य को दुष्कर्मनाश करने मे सहायक मानते हैं। उनके

१. परिचयी-साहित्य—त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ० ३२।

अनुसार काव्य वही है, जो दुष्कर्मों को नष्ट कर के नये सत्कार्यों का निर्माण कर सके :—

यह परचयी सुनै जो कोई। सहजै सब सुख पावै सोई।
वक्ता स्रोता पावै मोपा। नासैं कर्म हेत के दोषा॥[1]

संत जनगोपाल भी काव्य को मुक्ति का साधन मानते हैं। 'दादू-जन्म-लीला-परची' की रचना का लक्ष्य स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

संत सुनै तो अति सुख पावै,
सुध बुध आवै भक्ति उपावै॥
सुनै असंत होय दुःख भारी,
मलिन हृदय नहि ज्ञान विकारी॥
जो साधू निश्चय कर गावै,
मुक्ति भुक्ति परमारथ पावै॥
साधू सवै राम की देही।
ताको नाहीं और सनेही॥[2]

सन्त बोधदास का काव्यादर्श निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त हुआ है :—

पढ़हि सुनिहि जो कोइ, सन्त प्रचई गरन्थ यह।
भला तांहिं का होइ, कठिन करम कटि जाहि सव॥[3]

साराश यह है कि सभी सन्तों का काव्यादर्श ब्रह्म का गुण गान, (वाह्याचारों की आलोचना) सहज भाषा, सरल शैली अलंकारादि विहीन जनता में प्रचलित अति साधारण छन्द हैं। इन कवियों ने काव्य के महत्त्व को वहीं तक स्वीकार किया है, जहाँ तक वह ब्रह्म के स्मरण में सहायक हो सके, अन्यथा उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। सन्तों ने आध्यात्मिक जीवन को उन्नति एवं विकास के लिए काव्य के महत्त्व को स्वीकार किया है पर काव्य ही सब कुछ है इस भाव का समर्थन किसी भी कवि ने नहीं किया है। दरिया साहब मारवाड़वाले के निम्नलिखित शब्दों से सन्तों का काव्यादर्श सुन्दरतापूर्वक अभिव्यक्त हुआ है :—

सकल कवित का अर्थ है सकल बात की बात।
दरिया सुमिरन राम का कर लीजै दिन रात॥

—दरिया साहब की बानी, पृ० ९।

---

१ परिचयी-साहित्य—त्रिलोकीनारायण दीक्षित, पृ० ५३।
२ वही ,, ,, पृ० ५९।
३. वही-वही, पृ० ७३।

प्रश्न हो सकता है कि जब सन्तो ने कवि और कविता की इतनी निन्दा की तो फिर स्वय ही काव्य की रचना क्यो की। और जब सन्तो ने स्वतः काव्य को साधना मे बाधक कहा, तो उसकी रचना मे क्यों प्रवृत्त हुए? बात यह है कि सन्तो ने जिस काव्य की रचना की वह आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में सर्वथा सहायक है। सम्भवतः इसीलिए काव्य-रचना के विरुद्ध होते हुए भी वे इस ओर उन्मुख रहे। इसके अतिरिक्त काव्य गेय होता है, और गेय होने के कारण वह चिरस्मरणीय भी होता है। सन्तो ने सम्भवतः इसीलिए अपने भावो को सहज भाषा का परिधान पहनाकर काव्य का स्वरूप प्रदान किया। सन्तो के काव्य में कला का सर्वथा अभाव है, पर उसमे भाव-सौन्दर्य, सन्देश की महत्ता और प्रभावशालीनता का कही अभाव नही है।

सन्त-कवियो का साधक और उपदेशक रूप कवि के रूप से अधिक मधुर और स्वाभाविक है। सहज भावो की स्वाभाविक शैली मे अभिव्यक्ति ही उनका काव्यादर्श था। कविता तो उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति का साधन मात्र थी, कवि को सीमा मे बाँधने का साधन नही।

चतुर्थ परिच्छेद

सन्त-काव्य में अप्रस्तुत-योजना

अप्रस्तुत-योजना काव्य का अभिन्न अग है। काव्य के दो पक्ष होते हैं— भाव पक्ष और विभाव पक्ष। ये उभय अन्योन्याश्रित हैं। एक के अभाव मे द्वितीय की कल्पना सम्भव नहीं है। काव्य मे कलात्मकता और रमणीयता का संचार करने का समस्त श्रेय और दायित्व अप्रस्तुत योजना पर है। कवि के लिए अप्रस्तुत-योजना की शक्ति प्रकृति का बडा भारी वरदान है। सभी कवियों को यह प्रतिभा समान रूप से नहीं सम्प्राप्त होती है। सभी कवियों में प्रतिभा का स्तर भिन्न और पृथक् होता है। उपमा के क्षेत्र में सभी कालिदास की समता करने का दावा नहीं कर सकते। उसी प्रकार शब्दसचय में सभी नन्ददास के समान पटुता नहीं प्रदर्शित कर सकते। इस प्रकार की प्रतिभा का मूल कारण है सस्कार तथा वासना। दण्डी का मत है कि 'अद्‌भुतप्रतिभापूर्ववासना-गुणानुबन्धी' तात्पर्य यह है कि कवि की प्रतिभा में पूर्ववासना का गुण विद्यमान रहता है। रुद्रभट्ट ने प्रतिभा को काव्य का कारण बताते हुए उसे ईश्वरप्रदत्त या स्वतः-सिद्ध माना है :—

> मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
> अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥
> सहजोत्पाद्या च स द्विधा भवति
> उत्पाद्या तु कथञ्चिद व्युत्पत्या जन्यते परया॥

आचार्य वामन ने इसी हेतु 'कवित्व बीज प्रतिमानम्' अर्थात् प्रतिभा ही कवित्व का कारण है, प्रतिपादित किया है। इस प्रसग मे विचार करते हुए वामन ने कहा है 'कवित्वस्य बीज सस्कार विशेष. कश्चित, यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्न वा हास्यायतनम् स्यात्'। वाग्भट्ट ने प्रतिभा को ही काव्य की उत्पत्ति का कारण मानते हुए कहा है "प्रतिभा कारणान्तस्ये"। वाग्भट्ट आदि विद्वानो के मतो का समर्थन आचार्य जयदेव ने भी निम्नलिखित कथन द्वारा किया है.—

> प्रतिभयै श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
> हेतुमृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव॥

आचार्य हेमचन्द्र ने भी निम्नलिखित श्लोक द्वारा उपर्युक्त मतों का समर्थन किया है :—

प्रतिभैव च कवीनां काव्यकारणकारणम् ।
व्युत्पत्यभ्यासौ तस्या एव संस्कार कारकौ न तु काव्यहेतु ॥

कवि के व्यक्तित्व मे पूर्ववर्ती सस्कारो के रूप मे अद्भुत काव्य-प्रतिभा विद्यमान रहती है । इस प्रकार के सस्कारो के कारण ही कवि की दृष्टि समीक्षा, अनुभूति और अभिव्यक्ति गाभीर्य तथा विशदता को प्राप्त होती है । संस्कार पूर्वजन्म के ज्ञान की वासना के रूप मे एक स्वतन्त्र गुण है । मम्मट और वामन के अनुसार सस्कार विशेष का अर्थ 'पूर्वजन्मीय वासना' लगाया है ।

तो, वासना (दूसरे शब्दो मे सस्कार) अप्रस्तुत-विधान का मूलस्रोत है । कवि एक अतिशय भावुक प्राणी होता है, अतः उसके मानस-पटल पर जन्म-जन्मातर के सस्कारो का प्रभाव अकित रहता है । हर प्रकार की अप्रस्तुत-योजना के मूल मे वासना विद्यमान रहती है ।[१] कालिदास के काव्य मे इस मत का समर्थन अनेक स्थलो पर हुआ है ।[२] अप्रस्तुत-विधान के माध्यम से ही कवि की मानसिक स्थिति की अभिव्यक्ति होती है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उपमान के लिए अप्रस्तुत योजना या 'अप्रस्तुत विधान' शब्दों का प्रयोग किया है । उपमान साहित्य का प्राचीन शब्द है, जिसका अर्थ है 'जिससे उपमा दी जाय' । परन्तु शुक्लजी ने एक व्यापक अर्थ मे इसका प्रयोग किया है । काव्य के क्रियात्मक बोधपक्ष का सर्वाधिक ज्ञान 'अप्रस्तुत विधान' या अप्रस्तुत योजना द्वारा होता है । 'उपमान' शब्द की तुलना मे अप्रस्तुत-योजना या अप्रस्तुत-विधान अधिक व्यापक और अर्थ-ग्रहण की सामर्थ्य रखता है । विद्वानो का कथन है कि उपमान शब्द से तुलना का

---

१ Eros, Kan, in this sense, is truely the parent of all the goods, and the presiding deity of all Sahitya and literature, which is the only record of his play
—The Science of Emotions by Dr Bhagwan Das p 397.

२. (क) रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान् ।
पर्युत्सको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तु· ॥
तच्चेतसा स्मरति नूनमवोधपूर्वं ।
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि ॥
(ख) मनोहि जन्मान्तर सगतिज्ञम् । रघुवश, ७।१५ ।
तथा, पुराणो वा जन्मान्तर निविडवन्ध परिचय ॥
—उत्तर रामचरित ।

बोध होता है। यह शब्द उन्हीं अलंकारों के लिए उचित है, जो औपम्यगर्भ और एक श्रेणी के हैं। शेष अप्रस्तुत-विधान या अप्रस्तुत योजना का अर्थ विशेष से सम्बन्ध रहता है। बाहर से ग्रहण की हुई प्रायः समस्त वस्तुओं की अप्रस्तुत-विधान के अन्तर्गत परिगणना की जाती है। अप्रस्तुत, विशेष्य, विशेषण, क्रियाएँ, मुहावरे, लोकोक्तियाँ सभी कुछ इसी के अन्तर्गत ग्राह्य होती हैं। वर्तमान काल में उपमेय और उपमान के स्थान पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत का भी प्रयोग किया जाता है। उपमेय को प्रासगिक, प्राकरणिक, प्रकृत तथा प्रधान और उपमान को अप्रासगिक, अप्रकरणिक, अप्रकृत एवं अप्रधान भी कहा जाता है। अप्रस्तुत योजना कोई अभिनव शब्द नहीं। अलकार-शास्त्र मे प्राचीनकाल से अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार को मान्यता मिलती रही है। आध्यात्मिक जगत् मे अप्रस्तुताश्रय अप्रस्तुत की छटा दर्शनीय हो प्रस्तुत महाशून्य और परमप्रकाश के लिए भक्ति-साहित्य में भाँति-भाँति की अप्रस्तुत-योजनाएँ हुई हैं। अप्रस्तुताश्रय अप्रस्तुत के वर्णन की रमणीयता 'पद्मावत' मे भी मिलती है। सम्पूर्ण 'पद्मावत' काव्य ही प्रस्तुत-अप्रस्तुत का रहस्य बना हुआ है। अप्रस्तुत-विधान का रूप अलंकारिक होता है। अप्रस्तुतों की योजना सादृश्य-प्रधान-अलंकारो के साम्य के हेतु की जाती है और उसका रूप अप्रस्तुत होता है। इसीलिए अप्रस्तुत-विधान तथा अप्रस्तुत-योजना शब्दों का प्रयोग प्रचलित हुआ। ये एक दूसरे के पर्याय हैं। अप्रस्तुत-योजना या अप्रस्तुत-विधान शब्द चार मुख्य अलंकारो पर विचार को केन्द्रित कर देते हैं। उपमा में उपमेय और उपमान सामने रहते हैं और उपमानांग तर्कसिद्ध रहता है। दृष्टान्त मे भी यही बात रहती है। उत्प्रेक्षा में यही उपमानांश लोक से असिद्ध संभावना पर आदि कवि कल्पित होता है। इसमे उपमा जैसा उपमान समक्ष नहीं रहता है और उपमेय अपने को पृथक् करता-सा प्रतीत होता है। रूपक में उपमेय और उपमान की एकरूपता प्रतिपादित होती है। अपह्नुतिमें उपमेय छिपा दिया जाता है। रूपकातिशयोक्ति में उपमान उभय का स्थान ग्रहण कर लेता है। उपमान ही उपमेय का उद्बोधक बन जाता है।

अप्रस्तुत की सम्यक् और प्रभावशाली योजना सरल कार्य नहीं है। इसके लिए कवि में अनेक विशेषताओं का होना परमावश्यक है। यह आवश्यक है कि वह लोकशास्त्र के तत्वों का सूक्ष्म ज्ञाता हो। कवि में जितनी अधिक सहृदयता होगी और वह जितना ही अधिक अनुभवी होगा उतनी ही सुन्दर उसकी अप्रस्तुत योजना होगी और वह अप्रस्तुत-योजना हृदयग्राही तथा मार्मिक भी होगी। इस सबके लिए यह भी आवश्यक है कि कवि अपने हृदय में सवेदन-शीलता को जाग्रत करे और जीवन तथा प्रकृति का सूक्ष्म पर्यालोचक बने।

अब अलकार या अप्रस्तुत-विधान की परिभाषा की ओर ध्यान दीजिए। 'अलङ्करोतीति अलंकारः' अर्थात् अलकरण का कार्य करनेवाला अलंकार है। जो स्थान लौकिक व्यवहार मे स्वर्ण, रत्न आदि पदार्थों का होता है, वही स्थान साहित्य जगत् मे अलकारो का है। आचार्य भामह ने शब्दार्थवैचित्र्य को वक्रोक्ति संज्ञा दी है।[१] भामह ने वक्रोक्ति को ही सम्पूर्ण अलंकारो मे व्यापक निर्धारित करते हुए उसे अलकारो का एकमात्र आश्रय बताया है।[२] काव्य मे सौन्दर्य वृद्धि के लिए अलंकारो की आवश्यकता पर भामह ने सर्वप्रथम बल दिया है। दण्डी का मत है 'काव्य शोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते'[३], अर्थात् काव्य के शोभाकारक धर्मों को अलकार कहते हैं। वामन के अनुसार 'काव्य ग्राह्य अलकारात्। सौन्दर्य अलकारः' अर्थात् अलकार की विशिष्टता से ही उक्ति काव्य कहलाती है। वर्णन का चमत्कार-पूर्ण ढंग ही अलकार है। कुछ विद्वानो का मत है कि अलंकार की तुलना आभूषण से करना उचित नही है। आभूषण कभी-कभी सौन्दर्य-वृद्धि मे सहायक नही हो पाते। कभी-कभी वे अपने लक्ष्य की पूर्ति अधूरे रूप मे करते है। 'अल' का अर्थ है 'बस'। जिसका प्रयोग पाठक या श्रोता को यह कहने के लिए विवश कर दे, कि 'बस' 'अब' इसके आगे कथन की कोई सीमा नहीं वही श्रेष्ठ अलकार है। आचार्य विश्वनाथ के शब्दों मे अलंकार की परिभाषा निम्नलिखित है :—

शब्दार्थयोरस्थिराये धर्मा. शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥[४]

अर्थात् शब्द तथा अर्थ के उन अस्थिर धर्मों को अलकार कहते हैं, जो शब्दार्थधेय काव्य की शोभा को प्रवर्धित करते है तथा रस और भावादि के उपकारक तथा उत्कर्षकारक है। आचार्य मम्मट ने गुणो को रसों का अभि-धर्मशौर्यादिक आत्मागी धर्मों के समान तथा रसो के उत्कर्ष के हेतु मानते हुए अलकारो को हार आदि आभूषणो के सदृश गुणो का उपकारक माना है।[५]

---

१. काव्यालकार, १, ३६।

२. काव्यादर्श—दण्डी, २, १।

३. काव्यालकार ३, ६५।

४ साहित्यदर्पण।

५. येरसस्यागिनोधर्मा शौर्यादय इवात्मन'।
उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः ॥
उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवलकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥
—काव्यप्रकाश, ८७-८८।

इस आशय को स्पष्ट करते हुए मम्मट ने कहा कि 'काव्योशोभायाः कर्त्तारोधर्मांगुणाः। तदिशयहेतव सत्वलकारा।' मम्मट ने अलकारों को काव्य सौन्दर्यवर्द्धक गुणों का उत्कर्ष माना है। आचार्य वामन का मत दण्डी से साम्य रखता है। हेमचन्द्र ने अलकार को काव्यागाश्रित मानते हुए कहा है 'अगाश्रिता अलकाराः।' भाष्याकार का कथन है कि 'रसस्यागिनो यदग शब्दार्थौ तदाश्रिता अलकारा', अर्थात् रस के अंगी रूप शब्द तथा अर्थ के आश्रित रहनेवाले अलकार हैं। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य कुन्तक के मत से 'अलंकृतिरलकरणम्। अलंक्रियतेयति विगृह्य। स विवेच्यते विचार्यते।' तात्पर्य यह है कि अल्कृति का अर्थ ही अलंकार है। जिसके द्वारा अलंकृत किया जाए, उसको अलकार कहते हैं। इस प्रकार विग्रह करने से (अलंकृति शब्द अल्कार के लिए प्रयुक्त होता है) उसका (काव्यालकार ग्रन्थों में) विवेचन अर्थात् विचार किया जाता है। सक्षेप में संस्कृत के विद्वानों ने काव्य की शोभा बढानेवाले तत्व या धर्म को ही अलकार माना है।

हिन्दी के रीतिकालीन कवियों में, सर्वप्रथम मतिराम की परिभाषा उल्लेखनीय है। मतिराम ने 'ललितललाम' में अल्कार की निम्नलिखित परिभाषा की है :—

रस अर्थन ते भिन्न जो, शब्द अर्थ के माँहि।
चमत्कार भूषण सरिस, भूषन मानत ताहि॥

—ललितललाम।

चिन्तामणि ने अलकार की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा है :—

अलंकार ज्यौं पुरुष को हारादिक मन आनि।
मसोपम आदिक कविन अलंकार ज्यौं जानि॥

—कविकुल-कल्पतरु, प्रक० २।१।

कुल्पति ने अलंकार की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में दी है :—

रसहि बढावे होय जहँ, कबहुक संग निवास।
अनुप्रास उपमादि हैं, अलकार सुप्रकाश॥
उक्ति भेद ते होत हैं, अलंकार यह जानि।
वक्र उक्ति यातें कही, मैं विधि प्रथम बखानि॥

—रसरहस्य, षष्ट प्रकरण, छन्द १५ प्रक० ७।३।

कवि देव ने उत्कृष्ट काव्य के हेतु अलकारो को आवश्यक माना है और अलंकार को काव्य का प्राण माना है :—

शब्द सुमति सुनतैं कढ़े, लै पद वचननि अर्थ।
छन्द, भाव, भूषण सरस, सो कहि काव्य समर्थ॥
अलंकार जीव, छन्द तन भाख।
तण भूषण हू बिन जिये, बिन जीवन तम राख॥
मो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार।
... ...

कविता कामिनी सुखद पद, सुवरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिर अधिक अद्‌भुत रूप लखाति॥

—शब्द-रसायन।

गोप कवि के मत मे शब्दार्थ की रुचिर योजना अलकार है। अलंकार का विकास भाव, रस एवं गुणों के सौन्दर्य से होता है :—

शब्द अर्थ रचना रुचिर अलंकार सो जान।
भाव भेद गुन रूपते, प्रगट होत है आन॥

—रामचन्द्र-भूषण।

आचार्य श्रीपति के मत से जिसके माध्यम से काव्य मे चमत्कार की वृद्धि हो वही अलकार है :—

जदपि दोष बिन गुन सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसै, बनिता कविता रूप॥

रसिक सुमति के मत मे शब्दार्थ की विचित्रताएँ ही अलकार है :—

सबद अरथ की चित्रता विविध भाँति की होइ।
अलंकार तासों कहत रसिक विबुध कवि लोइ॥

वर्तमान आलोचकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अलकार विषयक परिभाषा बड़ी सुन्दर है। वे कहते है कि 'भावों के उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने मे कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति ही अलकार है।'[1]

काव्य मे अलकार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'अग्निपुराण' मे कहा गया है कि अलकार रहित विधवेव भारती। अलकार-सम्प्रदाय के आचार्यों के मत मे

१. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १२७-१२८।

काव्य रोचक एवं आनन्ददायी तभी होता है, जब उसमे अलंकारों का प्रयोग किया जाए—

तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्

—अलंकारसर्वस्व।

वामन का मत है कि काव्य अलकार द्वारा ही ग्राह्य होता है—'काव्य ग्राह्यमलकारात्।' इनके अतिरिक्त गुणवादी और रीतिवादी आचार्यों मे से मम्मट, दण्डी, आनन्दवर्धन तथा वामन आदि ने भी अलंकार की महत्ता को स्वीकार किया है। अलंकार काव्य-सौष्ठव का महत्त्वपूर्ण और सुन्दर साधन है। यह (अलकार) वर्णन की सुंदर और चमत्कारपूर्ण शैली या प्रणाली है। अलकार हमारी भावानुभूति के प्रकाशन को तीव्रता एवं उत्कर्ष प्रदान करनेवाले साधनों में प्रमुख है। अलकार साधन है, साध्य नहीं। अलकार की महत्ता काव्य जगत मे सदैव रही है और रहेगी। साधन के रूप मे अलकार अनजाने में ही हमारे दैनिक वार्तालाप तक में आते रहते हैं। किसी तथ्य अनुभूति, घटना की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के हेतु अलकारों का महत्त्व होता है। अलकार वाणी के विभूषण हैं।

'काव्यशास्त्र' में अलंकारों की उपयोगिता प्रतिपादित हुई है। विद्वद्वर राजशेखर ने इसे वेद का सप्तम अंग निर्धारित किया है। ध्वनिकार ने अलंकारों की स्थिति के सम्बन्ध में लिखा है कि 'अगीश्रतास्त्वलकाराः मन्तव्यकाव्यादिवत्' (ध्वन्यालोक)। इसी कथन का आचार्य विश्वनाथ ने समर्थन करते हुए कहा है 'रसादीनुपकुर्वन्तोऽलकारास्तेऽङ्गदादिवत्' (साहित्यदर्पण)। वाग्भट के मत से काव्य मे अलकारों की स्थिति अनिवार्य है :—

दोषैर्मुक्त गुणोपयुंक्तमपि येनोज्झितवय.।
स्त्रीरूपमिव नो भातितं बुवेऽलंक्रियोच्यस्॥

वामन ने काव्य मे अलंकारों की उपयोगिता स्वीकार करते हुए कहा है.—

(क) काव्य ग्राह्यलंकारात्— (काव्यालकारसूत्रवृत्ति, १।१।१)

(ख) काव्यं खलु ग्राह्यमुपादेयं भवति, अलंकारात्।

काव्यशब्दोऽयं गुणलंकार संस्कृतयो शब्दार्थयोर्वर्तते।
भक्त्या तु शब्दार्थमात्र वचनोऽत्र गृह्यते॥

(ग) कोऽसावलंकार इत्यत आह सौंदर्यमलंकार·।

वही, १।१।२।

(घ) "तं दोषगुणलंकारहानादाने। शास्त्रादस्मति। शास्त्रतो हि ज्ञात्वा दोषम् जह्याद् गुणालंकाराश्चावदीत।"

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि वामन की दृष्टि में काव्य के लिए अलंकार उपयोगी है। इसी प्रकार रुद्रट ने उत्तम काव्य के लिए अलकारो को आवश्यक माना है। उनका मत है कि काव्य को चिरस्थायी बनाने के लिए अलकार का प्रयोग नितान्त आवश्यक है :—

ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम् ।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ॥

—काव्यालंकार, १।४।

अलंकारों की उपयोगिता पर विचार प्रकट करते हुए 'साहित्यदर्पण' के यशस्वी लेखक विश्वनाथ ने कहा है :—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायकाः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

हिन्दी के आचार्यों में केशवदास[1], चिन्तामणि[2], कुलपति[3], देव[4], श्रीपति[5] ने भी काव्य के लिए अलकारों को उपयोगी माना है। आचार्य शुक्लजी भावों के उत्कर्ष को व्यक्त करने के लिए अलकारों को उपयोगी मानते है : "अलकार चाहे अप्रस्तुत वस्तुयोजना के रूप में हो (जैसे उपमा, उत्प्रेक्षा आदि में) चाहे वक्रता के रूप में (जैसे अप्रस्तुत प्रशसा, परिसख्या, व्याजस्तुति, विरोध इत्यादि में) चाहे वर्णविन्यास के रूप मे (जैसे अनुप्रास मे) लाये जाते है, वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष साधन के लिए ही कवियो की दृष्टि में भी अलंकार उपयोगी तत्व है।"[6] हिन्दी के प्रमुख कवि पं० सुमित्रानन्दन पत का कथन यहाँ पर पठनीय होगा। उनका कथन है कि भाव की अभिव्यक्ति के

---

१. जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुवरन सुरस सुवृत्त ।
भूषण बिन न विराजई, कविता, वनिता मित्त ॥
—कविप्रिया, १।५।

२. कविकुल कल्पतरु ।

३. रस-रहस्य ।

४. सो रस वरसत भाव वस, अलकार अधिकार ।
. .
कविता कामिनि सुखद पद, सुवरण सरस सुजाति ।
अलकार पहिरि अधिक, अद्भुत रूप लखाति ॥
—शब्दरसायन ।

५. जदपि दोष बिनु गुण सहित, सब तन परम अनूप ।
तदपि न भूषण बिन लसै, कविता वनिता रूप ॥
—काव्यसरोज ।

६. चिन्तामणि - भाग १, पृ० २४७ ।

लिए विशेष माध्यम अलंकार ही है। उनके विचार से काव्य की परिपूर्णता के लिए, भाषा की पुष्टि के लिए, अलकार अत्यन्त उपयोगी है।[1] अलकार चमत्कार के सृजन मे सहायक होते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ का मत है कि 'काव्य का प्राण चमत्कार है' अतः काव्य के लिए चमत्कार और अलकार दोनों ही आवश्यक हैं। क्षेमेन्द्र का कथन है कि 'नहिचमत्कारविरहितस्य कवेः कवित्वं, काव्यस्य वा काव्यत्वम्।'[2] क्षेमेन्द्र ने अन्यत्र भी अलकारों की अनिवार्यता पर जोर दिया है।[3]

अब अलंकारो के प्रति सतों की दृष्टि का अध्ययन करना आवश्यक है। यह सर्वविदित तथ्य है कि हिन्दी के संत-कवियों मे अधिकाश अल्प-शिक्षित या अशिक्षित थे। काव्य के प्रति उनकी क्या भावना थी, क्या दृष्टिकोण था यह 'सन्तों का काव्यादर्श' परिच्छेद में आलोचित हुआ है। संतो के लिए काव्य-रचना एक साधन था, साध्य नहीं। संतो ने हृदय की अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए काव्य को माध्यम बनाया। उनकी कविता में हृदय की सत्यता का चित्रण हुआ है। कविता के लिए हृदय की सत्यता और कल्पना की आवश्यकता होती है। यह हृदय की सत्यता पूर्णरूप से सतों के काव्य में विद्यमान् है। उनके काव्य मे जीवन की अनुभूतियों को चित्रित किया गया है। काव्य का काव्यत्व इसी मे है कि वह जीवन की अभिव्यक्ति तथा आलोचना हो। इस दृष्टि से भी संतो का काव्य सफल और ठीक दिशा मे अग्रसर साहित्य है। यही कारण है सत-साहित्य में गाम्भीर्य और प्रभावित करनेकी शक्ति है। अशिक्षित साधकों द्वारा विरचित यह साहित्य भारतीय जनता मे सैकडों वर्षो से प्रचलित है और जनता की सराहना प्राप्त कर रहा है, इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि इस साहित्य में सत्य-जीवन और अनुभव की कलात्मक अभिव्यंजना हुई है। सत्य-जीवन और अनुभव की कलात्मक अभिव्यंजना करने के पीछे सत-कवि काव्य के समस्त बहिरंग उपादानों—छन्द, रस, अलंकार आदि को बिसर गये। उनकी ये अनुभूतियाँ सहज और सरल रूप में उनके कण्ठ और हृदय से फूट पड़ी हैं और जन-जन के सताप को दूर करने के लिए आज भी जीवित है। इसी प्रकार की अनुभूति से सम्पन्न होने पर दादू ने कहा कि:—

---

१ पल्लव, पृ० २८-२९।

२ औचित्यविचार-चर्चा।

३ यथौचित्यवनामुक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनैव हारेण हरिणेक्षणा ॥२०॥
—औचित्य-विचार-चर्चा।

ऐसी प्रीति प्रेम की लागी, ज्यू पंपी पीव सुणावै।
त्यूं मन मेरा निग वासुरे, कोई पीव कूं आणि मिलावै रे॥

स्पष्ट है सतो के काव्य मे हृदय के सरल भाव, प्रेम की पीर, अनुभूति और सात्विकता की अभिव्यजना हुई है। सतो के साहित्य मे वह सतर्कता एव सावधानी नहीं उपलब्ध होती, जो एक लिखित रचना के हेतु आवश्यक मानी जाती है। उनका काव्यादर्श इस बात का समर्थक है कि वे कवि और कवि-कर्म को हेय मानते थे। काव्य सौन्दर्य की अभिवृद्धि के कृत्रिम साधनों—छन्द, अलकारादि की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। इसीलिए उनकी साखियो और पदो पर अलकारों का मुलम्मा चढाने का प्रयत्न नहीं किया गया। फिर भी सतो के काव्यों मे अलकार स्वतःसिद्ध है। उनके साहित्य मे केवल उन्हीं अलंकारो का बाहुल्य है जिनकी योजना कवि की प्रतिभा अज्ञात रूप से भावो को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए किया करती है। सतो के काव्य मे उपमा, रूपक, अनुप्रासादि अलकारों की प्रचुरता का यही कारण है। रहस्य-द्रष्टा इन सतो के रूपक और उपमाएँ दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखती है। उन्हे प्रतीकात्मक मूर्त भावों के हेतु कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। सतो की काव्य-रचना सम्बन्धी सफलता उनके रूपकों और उपमाओ मे दर्शनीय है। पर इसका यह तात्पर्य नही है कि उनके काव्य मे अन्य अलकारो का अभाव है। सुन्दरदास के काव्य मे अनेकानेक अलकारों का प्रयोग हुआ है, यद्यपि वे अलकारों के वाह्य-प्रदर्शन के विरोधी है। एक छन्द मे उन्होंने अलकार प्रिय केशवदास की बडी निन्दा की है:—

रसिक प्रिया रस मंजरी और सिंगारहि जानि।
चतुराई कहि बहुत विधि विषै बनाई आनि॥
विषै बनाई आनि लगत विषयनि को प्यारी।
जोग मदन प्रचण्ड सराहै नखशिख नारी॥
ज्यों रोगी मिष्ठान पाइ रोगहि विस्तारै।
सुन्दर यह गति होत, जु तो रसिक प्रिया धारै॥
रसिक प्रिया के सुनत ही, उपजै बहुत विकार।
जो या मॉही चित दे, वहै होत नर ख्वार॥
वहै होत नर ख्वार पार तो कछुक न लागै।
सुनत विषय की बात लहरि विष ही की जागै॥
ज्यों कोई ऊँघै लही पुनि सेज बिछाई।
सुन्दर ऐसी जानि सुनत रसिक प्रिया भाई॥

—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ४३९-४४०।

सन्तों के साहित्य में निम्नलिखित अलंकारों का प्रयोग हुआ है :—

१. रूपक,	२. उपमा,	३. प्रतिवस्तूपमा,
४. दृष्टान्त,	५. अतद्गुण,	६. तद्गुण,
७. स्वभावोक्ति,	८. सहोक्ति,	९. अत्युक्ति,
१०. विशेषोक्ति,	११. समासोक्ति,	१२. अन्योक्ति,
१३. विनोक्ति,	१४. वक्रोक्ति,	१५. लोकोक्ति,
१६. उल्लास,	१७. उल्लेख,	१८. भ्रमालंकार
१९. उत्प्रेक्षा,	२०. व्यतिरेक,	२१. अनन्वय
२२. उदात्त,	२३. विरोधाभास,	२४. उदाहरण,
२५. श्लेष,	२६. विभावना,	२७. असंगति,
२८. अवज्ञा,	२९. अधिक,	३०. पर्याय,
३१. सम और विषम,	३२. विचित्र,	३३. काव्यलिंग,
३४. एकावली,	३५. सार,	३६. निमति,
३७. सर्वगुरु,	३८. वीप्सा,	३९. आद्याक्षरी,
४०. आदि अंत अक्षर भेद,	४१. मध्याक्षरी,	४२. चित्रकाव्य,
४३. अन्तर्लापिका,	४४. बहिर्लापिका,	४५. प्रतिलोम-अनुलोम,
४६. भाषा-समक,	४७. तुल्ययोगिता,	४८. कारणमाला,
४९. परिणाम,	५०. क्रम,	५१. भेदकातिशयोक्ति,
५२. यमक,	५३. अनुप्रास,	५४. प्रतीक, तथा
५५. उलटवासी ।		

रूपक

भरत मुनि ने रूपक के सम्बन्ध में अपने मत को प्रकट करते हुए कहा है:—

नानाद्रव्यानुषंगाद्यदौपम्यं गुणाश्रयम् ।
रूपनिवर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम् ॥
स्वविकल्पन रचितं तुल्यावयवलक्षणम् ।
किंयत्सादृश्यसम्पन्नं यद्रूपं रूपकं तु तव ॥

—नाट्यशास्त्र १७।५७--५८ ।

संतों की रचनाओं में रूपक अलंकार की प्रधानता है। विद्वानों का कथन है कि कबीर रूपकों के राजा हैं। इस कथन का आलोचक जो भी अर्थ लगाए पर इतना सत्य है कि कबीर ही नहीं प्रायः सभी संतों की रचनाओं में इस अलंकार की प्रधानता है। जिस प्रकार कवि-कुल-कमल कालिदास उपमा अलंकार

के लिए जगतप्रसिद्ध है उसी प्रकार संत कवि अपनी रूपक योजना के लिए प्रसिद्ध है। रहस्यवादी कवि के हेतु रूपक अलंकार की विशेष आवश्यकता पड़ती है। कारण कि अपनी मधुरानुभूति की अभिव्यंजना वह सीधे-सादे शब्दों में कर ही नहीं पाता। सौन्दर्यानुभूति उसमें इतनी प्रबल हो जाती है कि वह रूपक के माध्यम से अपनी बात कहने में सफल हो पाता है। आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध तथा जीवन की क्षणभंगुरता को व्यक्त करने के लिए सन्तों ने रूपकों का ही माध्यम बनाया है। सन्तों के प्रतीक सांकेतिक होने के कारण यत्र-तत्र दुरूह भी हो गए हैं, परन्तु फिर भी ये प्रभावोत्पादक हैं। सन्तों के रूपकों में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

उनके सभी रूपक सावयव अध्यवसित हैं। उनमें व्यक्त अप्रस्तुत सरल और सामान्य जीवन से ग्रहीत हैं। उनके उपमान सामान्यतया प्रतीकात्मक हैं। ये रूपक फलसाम्य या वस्तुसाम्य पर निर्भर हैं। ये रूपक सरल और प्रभावोत्पादक प्रतीकों से सम्पन्न हैं। कबीर के रूपकों में ये सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। कबीर के रूपक रोचक होने के साथ ही विविधतापूर्ण हैं। कबीर की दार्शनिकता कहीं-कहीं गूढ़ हो गई है। ऐसे स्थलों में रूपक भी दुरूह बन जाते हैं।

संत कवियों में रूपकों की रचना करने में कबीर[1], दादू[2], मूलकदास[3], सुन्दरदास[4], धरनीदास[5], धरमदास[6], यारी साहब[7], दरिया साहब बिहारवाले[8],

१. क. कबीर-पदावली—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ५८।
   ख. वही — वही, पृ० ५९।
   ग वही — वही, पृ० ६१।
   घ कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ९३।
   ङ वही, पृ० ८७।
   च. कबीर-पदावली, पृ० ६६।
   छ. वही, पृ०, ६७।
   ज. वही, पृ०, ४०।
   झ. सतबानी-संग्रह, भाग २, पृ० ४, ३, २५, तथा २७।
२. सतबानी-संग्रह—भाग २, पृ० ९२, ९६, १००।
३ वही वही—भाग १, पृ० ९९, १००।
४. वही वही भाग २ पृ० १०७, १०८, ११०।
५. वही वही भाग १, पृ० ११३, ११४।
६. वही वही भाग २, पृ० ३७, ४०, ४१, ४२, ४३।
७. वही वही भाग २, पृ० १४६।
   तथा वही भाग १, पृ० १२०।
८. वही वही भाग १, पृ० १२१, १२२, १२३ तथा १२४

दूलनदास[1], बुल्लासाहब[2], केशवदास[3], चरनदास[4], सहजोबाई[5], दयाबाई[6], गरीबदास[7], गुलाल साहब[8], भीखा साहब[9], पलटू साहब[10], तुलसी साहब[11] आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सागरूपक की रचना मे कबीर[12], मलूकदास[13], रज्जब[14], भीखा[15], पलटू साहब[16] कुशल है, अभेदरूपक रचना मे कबीर[17], और सांकेतिक रूपक की रचना मे दरिया (बिहार वाले)[18] विशेष उल्लेखनीय हैं। समस्तवस्तुसावयव अधिक अभेद रूपकालंकार की रचना में कवि सुन्दरदास बड़े कुशल है।

सन्तों के रूपक अधिकतर रोचक तथा स्पष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि भावो की अभिव्यक्ति, सौन्दर्यानुभूति के प्रकटीकरण, दिव्यानुभूति के उल्लेख, तथा दूसरो को 'गूंगे के गुड़ का स्वाद' बताने के हेतु, सन्तों को रूपक का माध्यम सबसे अच्छा प्रतीत हुआ। उनके दाम्पत्यप्रेम-परक रूपकों मे व्यक्त भाव-सौन्दर्य हृदयग्राही है। विवाह प्रेम और विरह से सम्बन्धित उनके रूपक बड़े हृदयग्राही और प्रभावशाली है। इन सन्तों ने प्रायः रूपकों को दो रूपों मे बाँधने का प्रयत्न किया है। इनमे से प्रथम उलटवासी[19] है और द्वितीय आश्चर्य-

१. सतबानी-सग्रह, भाग २, पृ० १५७, १५९, १६०।
२. वही वही भाग २, पृ० १७०-७१।
३. वही वही भाग, २, पृ० १७६, १७७।
वही वही भाग १, पृ० १४१
४. वही वही भाग २, पृ० १८०, १८४, १८५।
५. वही वही भाग २, पृ० १९१, १९३, १९४।
६. वही वही भाग १, पृ० १६६, १६८, १७०, १७३, १८०।
७ वही वही भाग २, पृ० १९०, १९७, २००।
८. वही वही भाग २, पृ० २०३, २०७, २११, २१४।
९ वही वही भाग २, पृ० २१४।
१० वही वही भाग २, पृ० २१८, २१९, २२३, २२५।
११. वही वही भाग २, पृ० २३८, २४०, २४४, २४५, २४७।
१२. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ९३, पद १६।
१३. मलूकदास की बानी, पृ० ८, पद ५।
१४. रज्जबजी की बानी, पृ० ११, ३३, ४८, २३७।
१५ भीखा की बानी, पृ० ९९।
१६. पलटू की बानी, पृ० १०४।
१७. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३, तथा ७१।
१८ सन्तबानी सग्रह, भाग १, पृ० १२२।
१९. सुन्दर-ग्रन्थावली प्रथम उल्लास, पृ० ५-६।

रती। गाव भर के लोगो से जो ताई, काकी, ताऊ, चाचा का रिश्ता और
मझे जाने वाले लोगो के साथ जिस आत्मीयता का वर्ताव होता, वह
डा भला लगा करता। एक तरह से वह आदत ही हो गई।

गौर, तीज आदि त्यौहारो के मेले, उनमे होने वाले खेल-तमाशे, आत्मीयता-
व्यवहार, ठाकुरो का भी साधारण वर्ग के साथ उत्सव मनाना—सब वडा
लगता। जोगी लोग जो रात-रात भर अपनी सुरीली गूजती आवाज मे
उसे सुनते-सुनते वह किशोर विभोर हो जाता। रामलीला और रासलीला
मे वह इतना खो जाता कि उसे सब सत्य प्रतीत होता और दुखद प्रसगो
र उसके आसू झरने लगते। वह दुख न देख सकता था, न सह सकता
योकि उसने स्वय दुख सहा था और उसकी तीव्रता जानता था। उसे
न वडे अच्छे लगते और मनोरजन के अवसर पर जो "आर्या उत्सवा
मित्र होता, वह वडा अच्छा लगता और वह उसमे खुलकर भाग लेता।
उसे होली का हुडदग, उसके भद्दे और अश्लील ढग और मजाक नही अच्छे
लव कि उस अवसर पर वर्ण और जाति का भेद-भाव भूल जाना अच्छा
भद्दी या दूसरो को छोटा वनाने वाली वाते वडी वुरी लगती। वाद मे
त्सवो और आयोजनो में भाग लेना उसने छोड ही दिया।

II-आगमन .

लोगो के निरन्तर आग्रह से और यह प्रमाणित करने के लिये कि वह
नही है, आखिर कलकत्ता जाने का निश्चय हुआ। ज्योतिषी से मुहूर्त
ाते वक्त उसने यही कहा—"पडितजी, मैं वहाँ जा कर सफल होऊँ और
भी, लेकिन एक-डेढ वर्ष से ज्यादा वहाँ नही रहूँ, ऐसा मुहूर्त निकालिये।"
र्णिमा की अर्द्ध-रात्रि को जब उन्होने घर से प्रस्थान किया तो हाथ मे क्षीर
गगा-मदिर से आते लोग सामने मिले, मानो शुभ शकुन द्वारा ईश्वर ने
कलकत्ता जाने पर सफलता और उन्नति का आशीर्वाद दिया।
त्रा पहले कभी की ही नही थी। वस एक वार वगलवाले गाँव मुकुन्दगढ
कोई अनुभव नही, सिर्फ भय और आशका। जब दिल्ली स्टेशन पहुचा
ट कटाने की वात भूल कर वह स्टेशन-मास्टर के कमरे मे चलते पखे को
त रह गया—क्या वस्तु है, जो इतनी तेजी से घूमती है? आश्चर्य की
ने देख कर मन की धार्मिकता और नियमवद्धता के कारण "कई वार तो
कि लौट जाये। लोग ठीक ही कहते थे कि कलकत्ता तुम्हारे विचारो के
नही पडेगा।" लेकिन गाव की निन्दा की जो मार्मिक चोट लगी थी,
ोक रखा और वापस वे नही गये। रेल मे छुआछूत के डर से खाया
ल्ली की धर्मशाला की गन्दगी मे स्नान-ध्यान नही हो पाया लेकिन धीरे-
प्रा भी मिल गया, शिव-मन्दिर भी मिल गया जहा स्नान और पूजन हो
ौर, ग्लानि कम होती गई। यही नही, ऐसा भी विश्वास हुआ कि कितनी
नाइया हो, भगवान् कोई न कोई रास्ता निकाल ही देगा।